व्याख्यान-सार-सग्रहमाला का तृतीय पुष्प।

श्रीमज्जैनाचार्य-
पूज्यश्री जवाहिरलालजी महाराज के-
व्याख्यानो मे से-

धर्म-व्याख्या।

सम्पादक-
श्री साधुमार्गी-जैन पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी-
महाराज की सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक-
मंडल रतलाम की तरफ से
प० शंकरप्रसादजी दीक्षित

प्रकाशक-
बहादुरमल बाठिया-मीनासर (बीकानेर)

प्रथमावृत्ति २०००	मूल्य सदुपयोग	वीराब्द २४५७ विक्रमाब्द १९८७

प्राक्कथन

येषा न विद्या न तपो न दान, ज्ञान न शील न गुणो न धर्म ।
त मृत्युलोके भुवि भार भूता, मनुष्य रूपेण मृगाश्चरति ॥

अर्थात् जिस में विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील, गुण और धर्म नहीं है, वह पृथ्वी पर भार रूप है और मनुष्य के रूप म पशु है ।

ससार में ऐसे बहुत कम लोग होंगे जो धर्म का निरादर करते हों । धर्म सब को प्रिय है और प्रिय वस्तु (कार्य या बात) को अपनाना मनुष्य का स्वभाव है । जिन्हें धर्म अप्रिय है–जो धर्म का निरादर करता है–जिन में धर्म नहीं है–उनके लिये कवि ऊपर कह ही चुका है कि वे मनुष्य के रूप में पशु विचरते हैं और पृथ्वी पर भार हैं ।

अब प्रश्न यह होता है कि, धर्म कहते किसे हैं तथा किन कार्यो में धर्म है और किन में अधर्म ? इस प्रश्न का उत्तर विवादास्पद है । क्योंकि ससार में एक जगह जिस कार्य को धर्म माना जाता है,उसी कार्य को दूसरी जगह अधर्म माना जाता है । जैसे कोभेछा लोग, बदीऊन लोग, फिजियन लोग, आदि चोरी और डकैती में धर्म मानते हैं–इनका न करनेवाला धर्मात्मा नहीं गिना जाता–ग्रीस और रोम में भ्रूण-हत्या, लाइकर्गस और सोलन में बालहत्या, आस्ट्रेलिया, फ्रास, बेबिलोन आदि में

व्यभिचार को अधर्म नहीं, वरन् धर्म मानते हैं, लेकिन यही कार्य भारत में महानतम अधर्म माने जाते हैं। हम दूर देशों को ही क्यों देखें, भारत और विशेषतः जैन समाज को ही क्यों न देखें, कि एक ही देश और एक ही समाज में धर्म की व्याख्या में कितना अन्तर है। भारत में ही एक समाज हिंसा को धर्म और दूसरा समाज अधर्म मानता है। जैन-समाज में भी कुछ लोग किसी मरते हुए को बचाने तथा दीन दुःखी की सहायता करने को अधर्म (पाप) मानते हैं और शेष धर्म। एक देश और एक समाज में ही धर्म की इस प्रकार-परस्पर विरुद्ध-व्याख्या होने का कारण, हमारी समझ से तो स्वार्थ और अज्ञानता के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता। इस विरुद्धता के कारण प्रायः एक धर्मानुयायी का दूसरे धर्मानुयायी से संघर्ष भी होता रहा है तथा हो जाता है और यह भी भारत के अधःपतन का एक कारण है।

जैन-शास्त्र में धर्म की बहुत विस्तृत व्याख्या की गई है। इसी से जैन-धर्म, विश्व-धर्म कहलाने के योग्य है। लेकिन बहुत से प्रवर्तकों ने शास्त्र के गहन आशय को न समझ कर, धर्म की व्याख्या अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार की है। बहुत ने तो कुछ इने-गिने कार्यों में ही धर्म और शेष में अधर्म (पाप) बतला कर जैन-धर्म को इतना संकुचित बना दिया है, कि बहुत से लोग, प्रतिशत ९९ कार्यों को जिनका करना धर्म विरुद्ध

नहीं है—पाप ही मानते हैं और उनसे सदा दूर रहते हैं। लाला लाजपतराय जैसे देश-प्रिय नेता को जैन-धर्म पर आक्षेप करने और केवल ढाई हजार वर्ष में ही जैन-धर्मावलम्बियों की सख्या में आश्चर्यजनक कमी होने के बहुत बड़े कारणों में से एक कारण यह भी है। अस्तु।

जैन-शास्त्रों में और विशेषत स्थानाङ्गसूत्र में धर्म का कैसा विस्तृत और व्यापक विवेचन है, इसकी व्याख्या श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री १००८ श्री जवाहिरलालजी महाराज ने गत वर्ष के चातुर्मास में की थी। धर्म की इस व्याख्या को सुनकर, जैन तथा अजैन श्रोता हर्ष चकित रह गये। अत हमने मण्डल के उद्देश्यानुसार इस व्याख्या को पुस्तक रूप में प्रकाशित करना और समस्त जैन तथा अजैन भाइयों को धर्म की व्यापक व्याख्या से परिचित करना उचित समझा। इस विचार को कार्य रूप में परिणत कर के यह 'धर्म-व्याख्या' नाम की पुस्तक पाठकों के कर कमलों में पहुँचाते है और आशा करते हैं कि पाठक गण इस पुस्तक को आदर सहित अपनाकर धर्म की व्यापक व्याख्या से लाभ उठावेंगे।

स्पष्टी करण।

यद्यपि साधुओं की भाषा परिमित होती है और वे शास्त्रोक्त मर्यादा के अनुसार ही भाषा का प्रयोग करते हैं। तथापि उनके (पूज्यश्रीके) उपदेशों के संग्रह, सम्पादान और संशोधन में

धर्मकर्ताओं से त्रुटी होना आश्चर्य की बात नहीं है। हो सकता है कि, पूज्य श्री के भाव और भाषा के विपरीत कोई बात कहीं लिखी गई हो। लेकिन कोई बात शास्त्र या साधु की भाषा के विरुद्ध दृष्टि में आवे तो समाज में भ्रम फैलाने की अपेक्षा पाठकों को यह उचित है कि, वे मण्डल, पूज्य श्री या अन्य जैन-शास्त्र के वेत्ता सन्तों और विद्वानों से उस विषय का निर्णय कर लें।

धन्यवाद।

अन्त में हम भीनासर निवासी श्रीमान् सेठ बहादुरमलजी साहब बाँठिया को धन्यवाद देते हैं, जिन्होंने इस पुस्तक को अपने व्यय से प्रकाशित करके ज्ञान-वृद्धि में सहायता की। आशा है कि अन्य महानुभाव भी बाँठियाजी के इस कार्य का अनुकरण करके अपने धन का सदुपयोग करेंगे और ज्ञान-वृद्धि में सहायक बनेंगे। इत्यलम्।

रतलाम,
श्रावणी पूर्णिमा
सं १९८७

भवदीय—
बालचन्द श्रीश्रीमाल, वर्धमान पीतलिया
सेक्रेटरी प्रेसिडेण्ट

श्री साधुमार्गी जैन पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी
महाराज की सम्प्रदाय का
हितेच्छु श्रावक-मण्डल
रतलाम

❀ विषयानुक्रमणिका ❀

विषय	पृष्ठांक
धर्म व्याख्या (ग्रन्थारम्भ)	१
१ गाम-धम्मे।	३
२ नगर धम्मे।	४
३ रट्ठ-धम्मे।	६
४ पासण्ड धम्मे।	८१
५ कुल धम्मे।	२७
६ गण धम्मे।	३०
७ संघ धम्मे।	३६
८ ६ सुय चारित्र धम्मे।	५५
१० अत्थिकाय-धम्मे।	७४
११ दस थेवर	७६
१२ गाम थेरा	७६
१३ नगर थेरा	८३
१४ रट्ठ थेरा	६१
१५ पसत्थार थेरा	१०६
१६ कुल थेरा	११६
१७ गण थेरा	१२५
१८ संघ थेरा	१२८
१६ जाति थेरा	१३०
२० सुय थेरा	१३२
२१ परीताय थेरा	१३४

' धर्म-व्याख्या. '

किसी मकान के बनने से पहले, यह आवश्यक समझा जाता है कि उसकी नींव मजबूत हो। बड़ी-बड़ी कोठियें बनाने के लिये लोग, गहरी से गहरी और मजबूत नींव बनाते हैं। ऐसा न करें, तो उसके अधिक दिन ठहरने की आशा नहीं रहती।

ठीक यही बात धर्म के विषय में समझनी चाहिये। जब तक मनुष्य, लौकिक धर्मो के पालन में दृढ़ नहीं होता, तब तक वह लोकोत्तर धर्मों का पालन ठीक-ठीक नहीं कर सकता। क्योंकि, लौकिक-धर्म, जनता के आचरण को सुधारने वाले हैं। यदि, किसी व्यक्ति का व्यवहार ही उत्तम न हो, तो वह सूत्र चारित्य-धर्म का पालन कैसे कर सकता है ?

इसी बात को दृष्टि में रखकर शास्त्रकारों ने दस प्रकार के धर्म बतलाये हैं। यही नहीं, बल्कि उन धर्मों को समुचित रूपेण पालन करवाने के लिये, दस थीवरों की भी व्यवस्था की है।

ठाणाङ्गसूत्र के दसवें ठाणे में निम्न-लिखित दस प्रकार के धर्म बतलाये हैं —

गामधम्मे, नगरधम्मे, रट्ठधम्मे, पासण्डधम्मे, कुलधम्मे, गणधम्मे, संघधम्मे, सुयधम्मे, चरित्तधम्मे, अत्थिकायधम्मे।

इन दसों प्रकार के धर्मों एवम् अन्यान्य नैतिक व धार्मिक-व्यवस्था करने वाले जिन दस प्रकार के थीवरों की व्यवस्था शास्त्र ने बतलाई है, वे निम्नानुसार हैं —

गामथेरा, नगरथेरा, रट्ठथेरा, पसत्थारथेरा, कुलथेरा, गणथेरा, संघथेरा, जातिथेरा, सुयथेरा, परितायथेरा ।

उपरोक्त दस प्रकार के धर्मों और दस ही प्रकार के थीवरों की जो व्यवस्था शास्त्रकारों ने बतलाई है, उसकी विशेष व्याख्या आगे क्रमवार की जाती है ।

१ गाम-धम्मे ।

गाम-धम्मे या ग्राम-धर्म से आशय उस धर्म से है, जिसके पालन से ग्राम का नाश न हो, अपितु उसकी रक्षा हो ।

ग्राम उसे कहते हैं, जिसमें जनसमूह एकत्रित होकर रहते हों । किन्तु एक निश्चित सीमा तक ही उसकी आबादी हो । इस सीमा के उल्लंघन करने पर वह ग्राम नहीं, बल्कि नगर कहा जाता है । ग्राम-धर्म, केवल ग्रामों के लिये ही है नगरों के लिये तो पृथक् धर्म है ।

गाव में चोरी की रोक होती हो, पारदारिकादि (लम्पटी) न रहने पाते हों, विद्वान-मनुष्यों का अपमान न होता हो, पशुवध की रोक होती हो, मुकदमेबाजी में गाव के लोग सम्पत्ति न नष्ट करने पाते हों, और एक थीवर या पञ्चायत के अधीन सारा गाव ढङ्ग से शासित हो, इसीका नाम ग्राम-धर्म है ।

यद्यपि यह धर्म मोक्ष के लिये पर्याप्त नहीं है, किन्तु जिस धर्म से मोक्ष मिलता है, उस धर्म का पाया अवश्य है । यदि ग्राम धर्म व्यवस्थित न हो और सारे गाव में चोर ही चोर बसते हों, तो

वहा जाकर साधु क्या करेगा ? यदि भूलकर गया भी, तो चोरों का अन्न पेट में जाने के कारण, उसकी बुद्धि पर भी बुरा असर पड़े बिना न रहेगा। इसके अतिरिक्त जिस गाव में सब बुरे आदमी रहते हों, वहा कोई भला आदमी स्थायी कैसे रह सकता है ? और जब तक प्रत्येक ग्राम में कमसे कम एक भी सन्मार्ग-प्रदर्शक न हो, तब तक ग्रामवासियों की, धर्म की ओर रुचि कैसे हो सकती है। जहा ग्राम धर्म नहीं है, वहा सभ्यता भी नहीं हो सकती। इसीलिये भगवान ने साधु को अनार्य देश में जाने को मना किया है। क्योंकि वहा ग्राम-धर्म नहीं है, अत सभ्यता भी नहीं है।

प्रत्येक-ग्राम में एक थीवर (मुखिया) या सन्मार्ग-प्रदर्शक न रहता हो, तबतक लोगों को धर्माधर्म का ज्ञान कौन करावे, यह बात ऊपर कही जा चुकी है। जब तक ऐसा एक भी मनुष्य गाव में नहो, तबतक बड़े से बडा साधु भी वहा जाकर लोगों को धर्मोपदेश नहीं देसकता।

केसी श्रमण यद्यपि चार ज्ञान के स्वामी थे, किन्तु 'चित-प्रधान' के समान सन्मार्ग प्रदर्शक हुए बिना, राजा-परदेसी को सुधारने का काम नहीं होसकता था। आजकल तो यह दशा है कि आप लोग मुनियों के पास जाकर उनकी तारीफ खूब कर आते हैं, कविता गाकर या व्याख्यान देकर उनकी स्तुति भी कर डालते हैं, किन्तु जब 'चित प्रधान' के समान काम करने की आवश्यकता होती है, तब दूर भागते हैं। ऐसी अवस्था में सुधार होतो कैसे ?

जहा ग्राम-धर्म जागृत होता है, वहा धर्म की नींव सिद्ध हो

जाती है। या यों कहो कि जैसे किसान को अनाज बने के लिए भूमि तयार हो जाती है।

किसान, भूमि के तयार होने पर मिट्टी को तो खाता ही नहीं है, उसमें अनाज बोकर अन्यान्य-निरन्तर करता है, तब उसे फल मिलता है। यदि कोई कहे कि गेहूं बोने के लिए भूमि तयार करने की क्या आवश्यकता है? गेहूं बो दिये और काट लिये। तो क्या कोई बुद्धिमान्-किसान इस बात को मान सकता है?
"हर्गिज नहीं"

यह कहेगा कि कृषि की नींव खेतकी जुताई है, जबतक खेत तयार न होजाय, गेहूं कभी अच्छा हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार धर्म की नींव ग्राम धर्म है। जबतक ग्राम-धर्म का समुचित-रूपेण पालन न हो, तबतक मोक्षदाता सूत्र-चारित्र्य-धर्मों का पालन होने तथा उनके टिके रहने में बड़ी कठिनता आने की सम्भावना है।

२ नगर-धर्म्म।

यद्यपि शास्त्रकारों ने ग्राम-धर्म और नगर-धर्म दोनों की अलग-अलग व्याख्या की है, किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि ये दोनों बिल्कुल-अलग धर्म हैं। नगर-धर्म में पूरे ग्राम-धर्म का समावेश होता है। ग्राम-धर्म में जो-जो कर्त्तव्य कहे गये हैं वे सब तो नगर-धर्म में होते ही हैं,

ग्राम और नगर, परस्पर आधाराधेय भाव से स्थित हैं। अर्थात् बिना ग्राम के नगर का जीवन और बिना नगर के ग्राम की रक्षा नहीं है। ग्रामवालों में तो आज फिर भी कुछ धर्म-जीवन शेष है, किन्तु नगर वालों ने तो अपना धर्म-जीवन नष्ट-सा कर लिया है। ग्राम-धर्म को अपना आधार न मानकर आज के नागरिक, नाटक, सिनेमा, नाचरङ्ग और फैशन में अपने समय शक्ति और द्रव्य का दुरुपयोग करते हैं। परन्तु यह नहीं देखते कि हमारा धर्म क्या है।

ग्राम-धर्म और नगर-धर्म का उसी तरह सम्बन्ध है, जैसे शरीर और दिमाग का। अर्थात-यदि ग्रामीण शरीर के समान हैं, तो नागरिक मस्तिष्क के समान। मस्तक यद्यपि शरीर से ऊंचा है, किन्तु शरीर का सारा काम उसीमें होता है। यदि योगायोग से मस्तक पागल हो उठता है, तो वह अपने साथ-साथ सारे शरीर को भी ले डूबता है।

यही दशा, आज नागरिकों की हो रही है। उन्हें अपनी स्वत की रक्षा का ध्यान नहीं है, तो वे ग्रामीणों की रक्षा क्या करेंगे? जिस प्रकार मस्तक के बिगड़ने से शरीर की हानि होती है, उसी तरह आज नागरिकों के बिगड़ने से ग्राम-धर्म भी नष्ट होता जारहा है। नागरिकों का, अपना धर्म समझ कर उसे पालना और अपने आश्रित ग्राम-धर्म की भी रक्षा करना कर्तव्य है।

आपलोग मुझे आचार्य कहते हैं और मैं एक तरफ

बैठ जाऊ, व्याख्यान न दू, तो आप क्या कहेंगे ? यही न कि कोई दूसरे छोटे—सन्त बैठ जायँ, तो काम चल सकता है, परन्तु आपके बैठने से काम नहीं चल सकता ? आपका यह कहना ठीक है, क्योंकि आप लोगों ने मुझे अपने धर्म का अग्रणी नियत किया है। अत यह आवश्यक है कि मै आपलोगों को उपदेश देकर अपने कर्त्तव्य का पालन करूँ। ठीक इसी प्रकार ग्रामों और नगरों का सम्बन्ध है। जैसे श्रावकों के धर्म की रक्षा करना आचार्य का कर्त्तव्य है, उसी प्रकार नगरों का कर्त्तव्य है कि वे अपने आश्रित ग्रामों की रक्षा करें। जिस प्रकार आचार्य के बेपरवाह हो जाने पर श्रावकों और साधुओं का कल्याण नहीं होता, उसी प्रकार नगरों के बेपरवाह हो जानेपर ग्रामों का कल्याण कैसे सम्भव है ?

आज, राजनीति में जितने अगुआ हैं, उनमें अधिकाश नागरिक हैं। इसका मतलब यह है कि आज राजनीति नगरों के हाथ में है। किन्तु देखाजाता है कि जो नागरिक, एसेम्बली या अन्यान्य राजकीय सभाओं के मेम्बर चुने जाते हैं, उनमें से अधिकाश,पूर्ण रूप से अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं कर पाते।

आज, प्रजा की ओर से जो मेम्बर एसेम्बली में जाते हैं, उनमें से कई एक बैठे-बैठे देखा करते हैं और प्रजा के नाश के लिये कड़े-से-कड़े कानून बनजाते हैं। राजा और अन्य बड़ेलोग अपने मतलब की बात पेश करके अपनी वाक्पटुता से इन प्रजा के मेम्बरों को कुछ समझा देते हैं और वोट दिलाकर

अपने पक्ष में प्रस्ताव पास करा लेते हैं। ऐसे प्रजा-नाशक कानूनों के बनाने के समय उसका विरोध करना प्रजा की ओर से चुनेगये मेम्बरों का कर्त्तव्य है। किंतु वे लोग नगर-धर्म पर ध्यान न देकर, अपने कर्त्तव्य से गिर जाते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि ऐसे बिलों का विरोध करके, यदि कोई मनुष्य उन्हें रुकवा दे, तो उससे तो राजा का विरोध होगा और राजा के विरुद्ध काम करने की शास्त्रों में मनाई है।

ऐसा कहनेवाले शास्त्र के मर्म को नहीं जानते। शास्त्र में एक जगह आया है कि –

' विरुद्ध रज्जाइ कम्मे '

अर्थात्–राज्य के विरुद्ध कार्य न करना चाहिये।

शास्त्र तो कहता है कि राज्य के विरुद्ध कार्य न करना चाहिए और लोगों ने इसका यह अर्थ लगाया है कि राजा के विरुद्ध कोई कार्य न करना चाहिए।

राज्य, देश की सु–व्यवस्था को कहते हैं। उसका विरोध न करने के लिये जैन-शास्त्र की आज्ञा है। परन्तु राजा की अनीति के विरुद्ध कार्य करने को जैन-शास्त्र कहीं नहीं रोकता।

आज, शराब, गांजा, भङ्ग आदि के प्रचार की ठेकेदार सरकार होरही है। यदि सरकार की आबकारी की आय कम हो और वह एक सरक्यूलर निकाल दे कि "प्रत्येक प्रजाजन को एक एक ग्लास शराब रोज पीनी चाहिए, ताकि राज्य के आबकारी विभाग की आय बढ़जाय" तो क्या इस आज्ञा का पालन

आप लोग करेंगे ?

" नहीं "

और यदि यह सोचकर कि राजा का विरोध करना शास्त्र रोकता है, कोई मनुष्य शराब पीने लगे, तो क्या उसका धर्म बाकी रहेगा ?

" नहीं "

ऐसी अवस्था में राजा की इस अनुचित आज्ञा का विरोध करना प्रजा का कर्त्तव्य है। इसी का नहीं बल्कि उन सब कानूनों का विरोध करना भी प्रजा का कर्तव्य है, जिनके पास होजाने से प्रजा की हानि होती हो।

आप लोग, यदि जैन-शास्त्र की इस आज्ञा का उपरोक्त अर्थ समझते होते, तो आज जो लोग जनधर्म को कायर कहते हैं, वे कदापि ऐसा कहने का साहस न करते।

अहिंसावादी कायर नहीं होता है, बल्कि वीर होता है। एक ही अहिंसावादी यदि खड़ा होजाय, तो बिना हिंसा के ही बड़ी-बड़ी पाशविक शक्तियें उसे देखकर दूर रहेंगी। अस्तु।

नागरिकों ने ही आज फैशन और जेवरों की वृद्धि की है। इन्हीं लोगों का अनुकरण करके बेचारे ग्रामीण भी अपनी आय का अधिकांश, फैशन में उड़ा देते हैं। फलत विलासिता की दिनो दिन वृद्धि होती जा रही है और जनता की आय का इस तरह दुरुपयोग होजाने के कारण आज मनुष्यों को जीवन-दायक पदार्थ, जैसे-घृत, दुग्धादि का मिलना कठिन होगया है।

ससार मे बैठकर प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह समष्टि को अपनी नज़र में रखकर उसे हानि पहुंचे ऐसा बुरा काम न करे। जो मनुष्य समष्टि को अपनी दृष्टि में रखकर कार्य नहीं करता, वह नीतिज्ञ नहीं कहा जासकता।

मानव-स्वभाव सदैव अनुकरण शील है। बच्चा, जिस प्रकार अपने घरवालों का अनुकरण करता है, उसी प्रकार न्यून शिक्षित ग्रामीण, नगर के शिक्षित-समाज का अनुकरण करते है। किन्तु जिस प्रकार घर में कोई मनुष्य अच्छा या बुरा काम करता है, तो बच्चे पर उसका असर हुए बिना नहीं रहता, उसी प्रकार नागरिकों के प्रत्येक अच्छे बुरे कार्य का असर ग्रामीणों पर पड़े बिना नहीं रहता।

यदि नगर-निवासी, ग्राम-निवासियों को दृष्टि में रख कर अपने धर्म का समुचित-रूप से पालन करें, तो राष्ट्र का बहुत-अधिक हित होना सम्भव है।

३ रट्ठ-धम्मे।

जब ग्रामों मे ग्राम-धर्म और नगरों में नगर-धर्म का समुचित-रूप से पालन होता है,तब राष्ट्र-धर्म की उत्पत्ति होती है। ग्राम में यदि प्रामाणिक-मनुष्यों का निवास होगा, तो शहरवालों को भी प्रामाणिक बनना पड़ेगा। और यदि शहर के निवासी प्रामाणिक हुए, तो उसका प्रभाव समस्त-राष्ट्र पर पड़ेगा। यदि नगर-निवासी अपने धर्म का ठीक ठीक पालन न करें, तो सारे देश का नाश होजाता है।

भारतवर्ष को डुबाने का कलङ्क आज ग्रामीणों के नहीं बल्कि नागरिकों के सिर लगाया जाता है। और यह है भी सत्य। जब, भारत का पतन हुआ है, तब के इतिहास के पन्ने उलटने पर विदित होता है कि कुछ नागरिकों ने, अपना नागरिक-धर्म नहीं निभाया, फलत राष्ट्र धर्म नष्ट होगया। जयचन्द के जमाने से लगाकर मीरज़ाफ़र तथा उसके बाद आज तक हम यही दशा देखते हैं। बङ्गाल में जिस-समय ईस्ट-इण्डिया-कम्पनी के कार्यकर्ता अपनी कुटिलता से देश को तबाह कर रहे थे और नमक के समान साधारण-चीज का ठेका लेकर ऐसा अत्याचार कर रहे थे कि पाच सेर नमक भी यदि किसी के घर में निकल जाता था, तो उसकी सारी-सम्पत्ति जब्त करली जाती थी, और अपने व्यापार की वृद्धि तथा अपने स्वार्थ-साधन के लिये प्रसिद्ध प्रसिद्ध जुलाहों में से बहुतों के अगूंठे कटवा लिये थे। तब इन अत्याचारों का प्रतिकार करना एक प्रकार से असम्भव-सा हो गया था। इसका कारण यह था कि जगत सेठ-अमीचन्द तथा महाराजा-नन्दकुमार के समान प्रसिद्ध-प्रसिद्ध नागरिक भी केवल अपने स्वार्थ-साधन के लिये देश-द्रोह कर रहे थे।

भारत के ही नहीं, किसी भी राष्ट्र के पतन का कारण यदि आप ढूँढेंगे, तो विदित होगा कि उस राष्ट्र के नागरिकों का अपना नगर-धर्म न पालना ही देश के पतन का कारण हुआ है। आज भी बत्तीस-करोड भारतीयों पर थोड़े से विदेशी शासन करते हैं, इसका कारण यही है कि बहुत-से नागरिक, अपने नगर-

धर्म का पालन बिल्कुल नहीं करते या यों कहिये कि देश द्रोह करते हैं। जबतक सब ग्रामीण ग्राम-धर्म और सब नागरिक नगर-धर्म का पालन करने की आदत न डालेंगे, तब तक राष्ट्र-धर्म की उन्नति होना असम्भव है।

राष्ट्र शब्द की व्याख्या करते हुए शास्त्रों में बतलाया गया है कि प्राकृतिक सीमा में सीमित तथा एक ही जाति एवं सभ्यता के मनुष्य जहां रहते हों, उस देश का नाम राष्ट्र है। या यों कहिये कि बहुत से ग्रामों और नगरों के समूह को राष्ट्र कहते हैं।

राष्ट्र-धर्म वह है, जिससे राष्ट्र सुव्यवस्थित रहे। जिस कार्य के करने से राष्ट्र की उन्नति हो, मानव-समाज अपने अपने धर्म का पालन करना सीखे, राष्ट्र की सम्पत्ति सुरक्षित रहे, शान्ति फैले, प्रजा सुखी हो, राष्ट्र की प्रसिद्धि हो और कोई अत्याचारी राष्ट्र के किसी अङ्ग पर भी अत्याचार न कर सके। इसके विरुद्ध जिस कार्य का फल निकलता हो वह राष्ट्र-अधर्म है।

राष्ट्रधर्म का पालन करने की ज़िम्मेदारी राष्ट्र के निवासी प्रत्येक-व्यक्ति पर है। एकही मनुष्य के किये हुए अच्छे या बुरे काम से, राष्ट्र विख्यात या बदनाम हो सकता है। जैसे, एक भारतीय-सज्जन, यूरोप की एक अद्वितीय लायब्रेरी में गये थे। उस लायब्रेरी में कई दिन तक जाकर उन्होंने अपने विषय के ग्रन्थों का अध्ययन किया। एक दिन, एक ग्रन्थ में से उन्होंने एक बहुत-क़ीमती चित्र चुरा लिया। योगायोग से लायब्रेरियन को इसका पता लगा और बात प्रमाणित भी होगई। इसका नतीजा

यह हुआ कि "उस लायब्रेरी में भविष्य में कोई हिन्दुस्थानी नहीं जासकता" यह नियम बना दिया गया। भारत के सैकड़ों विद्यार्थी यूरोप जाकर उस लायब्रेरी के ग्रन्थों से फायदा उठाते थे, किन्तु एकही मनुष्य के राष्ट्र-धर्म न पालने से राष्ट्र की यह हानि हुई कि भविष्य में कोई भारतीय उस लायब्रेरी के अमूल्य-संग्रह से लाभ नहीं उठा सकता। यही तक नहीं, बल्कि पत्रों में इस विषय की चर्चा करके उन लोगों ने यह बतलाने का भी प्रयत्न किया कि भारतीय-मनुष्य बेईमान होते हैं। यह हानि और उसके साथ साथ बदनामी भारतवर्ष यानी समस्त राष्ट्र को इसलिये सहनी पड़ी कि उसके एक आदमी ने यूरोप में जाकर, बेईमानी की थी। इसके विरुद्ध, विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर, डॉ० जगदीशचन्द्र बसु विवेकानन्द या गान्धीजी के समान एक ही मनुष्य यूरोप में जाकर, अपने राष्ट्र-धर्म का पालन करते हुए, अपने उन्नत व्यक्तित्व का परिचय देकर भारतवर्ष का सिर ऊंचा करते हैं। इसीलिये कहा गया है कि राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति पर राष्ट्र का आधार है।

कुछ लोग कहते हैं कि आत्म-कल्याण करने वाले को ग्राम-धर्म, नगर धर्म और राष्ट्र धर्म की क्या आवश्यकता है? ऐसा कहनेवालों का यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि साधुओं को भी रोटी खाने की जरूरत तो पड़ती है। यदि ग्रामवासी अधर्मी या चोर हों या पतित गुलाम हों, तो उनका अन्न खानेवाले, धर्मात्मा या स्वतन्त्र विचार रखनेवाले महात्मा, कैसे बन सकते हैं? क्यों कि, जैसे विचार रखनेवाले का अन्न मनुष्य खाता है, प्राय वैसे

ही विचार उसके भी होजाते हैं। जब तक गृहस्थियों का जीवन पवित्र न होगा, तब तक साधुओं का जीवन पवित्र रहना बहुत कठिन है। यदि गृहस्थी अपने धर्म पालन में सलग्न हों, तो साधुओं का सयम भी पवित्र रहेगा, यह ध्रुव-सत्य है। शास्त्र दशवेकालिक के पहले अध्याय की पहली-गाथा की टीका में नीतिमान पुरुष का न्याय से उपार्जित अन्न ही साधु के लिये ग्राह्य बताया है।

वास्तव में धर्म उसी का है, जहा अपना राष्ट्र हो। आज, देखते-देखते ईसाई और मुसलमानों की सख्या में आश्चर्य जनक वृद्धि हुई है। भारत में सात-करोड़ मुसलमान सुने जाते है। ये कहीं अरब से तो आये नहीं, परतु उनका राष्ट्र होने से उनकी वृद्धि होगई थी। दो करोड़ से ज्यादा भारतीय-ईसाई आज भारतवर्ष में मौजूद हैं। ये लोग, यूरोप या अमेरिका से नहीं आये है, भारतवर्ष में ही पैदा होकर, ईसाईयों का राष्ट्र होने के कारण, इन्हें ईसाई बन जाना पड़ा। सुना जाता है कि इग्लैण्ड के बादशाही तख्त पर वही राजकुमार बैठ सकता है, जो प्रोटेस्टेण्ट (ईसाई धर्म की एक सम्प्रदाय) ईसाई हो। रोमन-कैथोलिक-धर्म का माननेवाला कभी वहा का बादशाह नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि राष्ट्र उन लोगों का है, वे जो चाहते है, वही होता है। भारतवर्ष मे भी यही दशा सुनी जाती है। *

---

*भारतवर्ष की राज्य-व्यवस्था में खर्च की एक मद है, "ईसाई धर्म की व्यवस्था" इसमें भारतवर्ष की ही पैदा का ३२४२०००

जबतक, राष्ट्र का प्रत्येक–मनुष्य, राष्ट्र–धर्म का ठीक ठीक पालन नहीं करता, तब तक सूत्र–चारित्र्य धर्म सदैव खतरे में रहता है। क्योंकि राष्ट्र–धर्म आधार और सूत्र–चारित्र्य–धर्म आधेय हैं। आधार के नष्ट होजाने पर आधेय भी नष्ट होजाता है। जैसे पात्र बिन घृत का।

एक–नाव, मनुष्यों से भरी हुई जारही है। एक मनुष्य उसमें से एक आदमी को उठाकर नदी में फेंकता है और दूसरा मनुष्य एक तेज़–हथियार से नाव में छेद कर रहा है। अब, किसी बुद्धिमान पुरुष से पूछाजाय, कि तुम पहले किसे रोकोगे ? तो वह उत्तर देगा कि नाव में छेद करने वाले मनुष्य को।

अब यदि कोई कहे कि लकड़ी की नाव फोड़नेवाले को पहले क्यों रोका ? जीवित–मनुष्य को नदी में फेंकनेवाले को पहले क्यों नहीं रोका ? परन्तु यह कहनेवाले को सोचना चाहिए कि यदि नाव में मनुष्य न बैठे होते और वह कहीं किनारे पर पड़ी होती, उस समय कोइ उसे फोड़ता, तो यह कथन उचित भी था। किन्तु जब उसमें मनुष्य बैठे हैं और वह बीच–नदी में चल रही है, तब यदि छेद हो जायगा, तो जितने मनुष्य उसमें बैठे हैं, वे सब के सब डूब जायगे। किन्तु ठीक छेद करते समय, यदि प्रत्येक–मनुष्य आत्म–रक्षा का विचार करने लगे और अन्य मनुष्यों की

रुपया प्रतिवर्ष खर्च किया जाता है। किन्तु यह एक ऐसा विशेष-व्यय करार दे दिया गया है कि हमारे देश की लेजिस्लेटिव एसेम्बली इस खर्चपर अपना कोई प्रभाव नहीं डाल सकती–सम्पादक।

चिन्ता न करे, तो क्या उन्हें कोई अच्छे-आदमी कह सकता है?
"कदापि नहीं"

यही बात, जो लोग राष्ट्र की रक्षा करना बुरा बतलाकर केवल व्यक्ति की रक्षा करना चाहते हैं, उनकी समझनी चाहिये। संसार में बैठकर सारे काम तो करते हैं, किन्तु जहां कठिन-धर्म के पालन का प्रश्न उपस्थित होता है, वहां कह देते हैं कि हमें इस से क्या मतलब? ऐसा कहकर राष्ट्र के उपकार से विमुख होजाते हैं।

केवल-ज्ञान होजाने के पश्चात् भी भगवान महावीर, समष्टि के कल्याण की इच्छा से उपदेश देते थे। जब केवलियों की यह दशा है, तो साधारण संसारी मनुष्य का संसार में बैठे हुए यह कहना कि "हमें राष्ट्र से क्या मतलब?" कितनी भारी कृतघ्नता है।

डूबते हुए को बचा लेना धर्म है, यह समझते हुए भी कई लोग, राष्ट्र की रक्षा के काम से कोसों दूर रहते हैं। इसका कारण यही है कि उन्हें राष्ट्र-धर्म का महत्व ही नहीं मालूम है। एक कानून के बनने से लाखों-मनुष्य मरते और बचते हैं। किन्तु कुछ लोग धारा सभा के मेम्बर होकर भी उस पर ध्यान नहीं देते कि यह कानून हमारे देशवासियों के लिये लाभ प्रद है, या हानि प्रद। वे इस बात को नहीं समझते कि इस कानून के बन जाने से, जिस देश में मैं बसता हूं, उसका अपमान हो रहा है। वे तो केवल अपने मेम्बर-पद या अपनी उपाधियों की रक्षा करने में लगे रहते हैं।

किसी स्त्री के पुत्र और पति बैठे हों, और कोई अन्य-मनुष्य उस स्त्री का अपमान कर रहा हो, ऐसे समय में वे पति

और पुत्र उस अपमान की ओर ध्यान न देकर यदि अपनी मौज में लगे हों, तो ससार उन्हें अच्छा कहेगा ?

"हर्गिज़ नहीं"

तो यह भारत आप लोगों की मातृभूमि है, आपका देश है, आप इसमें उत्पन्न हुए हैं और इसके किसी भाग के मालिक बने हुए हैं, अत यह आप सब की जननी है। किन्तु यदि तुम्हारे ही सम्मुख तुम्हारी मातृभूमि की बे इज़्ज़ती हो रही हो अर्थात् ऐसे कानून बनें, जिनसे तुम्हारे धर्म या स्वतन्त्रता अथवा देश की इज़्ज़त में बाधा पहुचती हो और तुम अपने मौज-मजे में लगे रहकर उनको न देखो, तो क्या यह तुम्हारा मनुष्यत्व है ?

"नहीं"

राष्ट्र की रक्षा मे सब की रक्षा और राष्ट्र के नाश में सब का नाश होजाता है। शास्त्रों के देखने से यह बात प्रकट है कि राष्ट्र-धर्म के बिना सूत्र-चारित्र्य धर्म टिक ही नहीं सकता। इस बात का उदाहरण जैन शास्त्रों से ही दिया जाता है।

भगवान ऋषभदेव ने जन्म लेकर ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म की स्थापना की। उन्होंने अपनी आयु के २० भाग कुवरपन में व्यतीत किये थे। ६३ भाग राष्ट्र के सुधारने में लगाये थे और १ भाग सूत्र-चारित्र्य-धर्म के प्रचार में लगाया था। इससे सिद्ध है कि यदि राष्ट्र धर्म न होता, तो सूत्र-चारित्र्य धर्म न फैलता। इसके अतिरिक्त, जम्बूद्वीप-पन्नत्ती सूत्र में कहा है कि पहले सूत्र-चारित्र्य-धर्म का नाश होगा, फिर राष्ट्र-धर्म

का नाश होगा। इससे भी प्रकट है कि जबतक सूत्र-चारित्र्य-धर्म है, तब तक राष्ट्रधर्म का होना आवश्यक है। क्योंकि सूत्र-चारित्र्य धर्म का प्रचार करने के पहले, भगवान ऋषभदेवजी ने राष्ट्र-धर्म फैलाया था और उपरोक्त सूत्र के अनुसार, सूत्र-चारित्र्य धर्म के नाश होने के बाद तक राष्ट्र-धर्म रहेगा। अर्थात सूत्र-चारित्र्य-धर्म के जन्म से पहले और नाश के अन्त तक राष्ट्र-धर्म रहेगा।

कोई मनुष्य यदि यह कहे कि हमें राष्ट्र धर्म से क्या मतलब है? तो उससे पूछना चाहिए कि सूत्र-चारित्र्य धर्म से तो आपको मतलब है या नहीं? यदि है, तो सूत्र-चारित्र्य-धर्म तो बिना राष्ट्र-धर्म के नहीं टिक सकते, अत यदि आपको सूत्र-चारित्र्य-धर्म पालना है, तो राष्ट्र-धर्म का निषेध कदापि नहीं कर सकते।

ठाणाङ्ग-सूत्र के पाचवें ठाणे में कहा है –

धम्म चरमाणस्स पच णिस्साठाणा,

प० त०–छकाए, गणे, राया, गिहवती, सरीर।

(सूत्र ४४७)

अर्थात–सूत्र–चारित्र्य–धर्म को जिसने स्वीकार किया है, उसको भी पाच वस्तुओं का आधार है। वे ये हैं–छ काय, गच्छ, राजा, गृहदेनेवाला और शरीर।

इसका यह स्पष्ट अर्थ है कि इन पाच का आधार पाये बिना सूत्र-चारित्र्य-धर्म नहीं टिक सकता। यहा, राजा शब्द से राज्य

या राष्ट्र से आशय है । यदि राष्ट्रीय-व्यवस्था यानी राज्य प्रबन्ध न हो, तो चोरी आदि कुकर्म फैलेंगे और इनके फैलने पर सूत्र-चारित्र्य-धर्म नहीं ठहर सक्ते । जो लोग अपनी रक्षा के लिये शस्त्रादि रखते हैं, उनका भी बिना राष्ट्र-धर्म यानी राष्ट्र की समुचित व्यवस्था के, दुष्टों से सरक्षण नहीं होता है, तो जो साधु-लोग किसी को मारने के लिये एक लकड़ी भी नहीं रखते हैं, क्या दुष्ट लोगों के मारे वे ससार में शान्ति पूर्वक धर्म पालन कर सकेंगे ? इसीलिये, ठाणाग सूत्र के पाचवें ठाणे में, राजा को धर्म का रक्षक मानागया है ।

शास्त्रकारों ने, इसीलिये राष्ट्रधर्म की आवश्यक्ता बतलाई है । राष्ट्र धर्म, सूत्र-चारित्र्य-धर्म का रक्षक है । जो लोग, धर्म की एक ओर से तो रक्षा करें और दूसरी ओर से नाश होने दें, तो क्या उनका धर्म ठहर सकेगा ?

" नहीं "

केवल सूत्र चारित्र्य धर्म को मानना और राष्ट्र धर्म को न मानना वैसा ही है, जैसे मकान की नींव खोदकर या वृक्ष की जड़ काटकर, उसके सुरक्षित रहने की आशा करना । सूत्र-चारित्र्य धर्म, मकान या वृक्ष के फल के समान है और राष्ट्र धर्म मकान की नींव या वृक्ष की जड के समान । जो लोग, इन ग्राम, नगर और राष्ट्र-धर्म को एकान्त-पाप बतलाकर, इनकी जड काटते हैं, आगे चलकर उनके सूत्र चारित्र्य धर्म भी नहीं ठहर सकते ।

आज,बहुत से लोग, बात को सुनकर 'तथ्य'' कह देना जा

हैं। परन्तु यह कभी नहीं सोचते कि इनकी बात का दूसरे की बात से मिलान तो करें या शास्त्र मे क्या लिखा है, यह तो देखें। बल्कि ऐसी सङ्कुचित मनोवृत्तियें हो रही हैं, कि दूसरे की बात सुनने में उन्हें मिथ्यात्व लग जाने का भय रहता है *। जैसे केसी-श्रमण ने चित प्रधान से कहा था कि परदेमी राजा जन किसी की सुनता ही नहीं है, तो हम उसे उपदेश देकर सन्मार्ग पर कैसे लावें? ठीक यही दशा आज के कुछ लोगों की हो रही है। किन्तु अब वह ज़माना नहीं रहा, अब जागृति का समय है। किसी की बात को बिना शास्त्र देखे और बिना विचार किये, मान लेने से, आगे पश्चाताप करना पडेगा। यही नहीं, ऐसे विचार रखने से भविष्य में अकल्याण होने की सम्भावना रहती है और ऐसे विचार रखनेवाले एवं आचरण करनेवाले श्रावक, जैन धर्म और *जैन-शास्त्र की भी निंदा कर*-वाते है। इसीलिये हम कहते हैं कि जैन धर्म और जैन शास्त्र को लजाओ मत। प्रत्येक-बात को बुद्धि से विचारो, दूसरे की सुनो और शास्त्र में भी देखो। केवल अंध-विश्वास के सहारे, किसी बात को पकड रखना उचित नहीं है।

* तेरहपन्थी-सम्प्रदाय के साधु अपने श्रावकों को उपदेश देते हैं कि यदि तुम बाइस-सम्प्रदाय के पूज्यजी का व्याख्यान सुनने जाओगे तो तुम्हें मिथ्यात्व लग जावेगा। यहीं तक नहीं, वे अपने श्रावक श्राविकाओं को इसके लिये सौगन्द भी दिलवाते है। कैसी मानसिक दुर्बलता है!—सम्पादक।

आज, लोग जैनियों की हँसी करते हैं। इसमें जैन-शास्त्र का दोष नहीं है। शास्त्र तो स्पष्ट कह रहे है कि राष्ट्र-धर्म भी धर्म का एक अङ्ग है। यह दोष तो है समझने और समझाने-वाले का। समझने और समझाने वाला की कमी से आचरण में आना और भी मुश्किल हो गया है। यही कारण है कि लोग जैन धर्म को सङ्कुचित तथा अ-व्यावहारिक धर्म कहकर उसकी खिल्ली उडाते है।

राष्ट्र धर्म के समझाने में ऊपर भगवान ऋषभदेव का उदाहरण इसलिये दिया है कि आप लोग उनके कामों की अवहेलना न कर सकें। शास्त्र में कहा है –

"पया हियट्ठयाये"

अर्थात् भगवान ऋषभदेव ने प्रजा हित के काम किये हैं।

उनकी स्थापित की हुई राजनीति से ही आज आप लोगों का काम चल रहा है। लोगों ने पाखण्ड फैलाकर उनकी बताई हुई नीति को उल्टी अवश्य करदी है, परन्तु उन्होंने तो ये काम सबके हित की दृष्टि से ही किये थे। जो मनुष्य, उनके कामों को एकान्त पाप बतलाते हैं, वे भूल करते है*। ऐसा कहनेवाले, अभी इतने ज्ञानी नहीं होगये है, कि भगवान ऋषभदेव के कामों को एकान्त-पाप

* जैन-श्वेताम्बर-तेरहपन्थी लोग, भगवान ऋषभदेव के इन सब कामों को एकान्त-पाप कहते हैं। उनकी दृष्टि में, केवल मूल-चारित्र्य धर्म को छोड़कर ससार के शेष सब काम एकान्त पाप हैं-सम्पादक।

कह सकें। भगवान ऋषभदेवजी ने जो नीतियें स्थापित की हैं, उनमें से एक विवाह को ही लीजिये। आज, यदि विवाह बन्धन न होता और वही दशा होती, जो जुगलयों में थी, तो आज मानव-समाज की क्या दशा होती? जुगलया में तो शान्त भाव था, इस लिये वे 'काम' को अपने वश में रखते थे। परन्तु आज विवाह-बन्धन होने पर भी कई लोग पराई स्त्री पर दृष्टि डालते हैं, तो विवाह-बन्धन न होने पर पशुओं से गये बीते होते या नहीं? पशुओं में तो फिर भी मर्यादा है, परन्तु मनुष्य जो विवाह-बन्धन होनेपर भी तीसों दिन भ्रष्ट होते हैं, विवाह-बन्धन न होता, तो क्या करते? इन बातों पर विचार करने से भगवान-ऋषभदेव की स्थापित-नीति का महत्व समझ में आजाता है। यदि इन बातों पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करें, तो जो भगवान के इन कामों को पाप बतलाते हैं, वे ऐसा कहने का साहस फिर न कर सकें।

---

४ पाखण्ड-धर्म्म।

तीन धर्मों की व्याख्या तो हो चुकी, अब चौथे धर्म अर्थात् "पाखण्ड-धर्म" के विषय में कुछ कहते हैं।

"पाखण्ड-धर्म" इसका अर्थ यदि किसी साधारण-मनुष्य से पूछें, तो वह चक्कर में पड़ जायगा कि जो पाखण्ड है, वह धर्म कैसे हो सकता है? क्योंकि साधारण-लोग पाखण्ड शब्द का अर्थ केवल दम्भ ही मानते हैं। परन्तु दशवैकालिक-सूत्र अध्याय २ निर्युक्ति १५८ की टीका में पाखण्ड शब्द का अर्थ यों किया है—

पाखण्ड व्रतमित्याहुस्तद्यस्यास्त्यमलं भुवि ।
स पाखण्डी वदन्त्येवं, कर्मपाशाद्विनिर्गतः ॥

अर्थात् पाखण्ड नाम व्रत का है। वह जिसका निर्मल है, उस कर्म-बन्धन से विनिर्मुक्त पुरुष को पाखण्डी कहते हैं।

जिन्हें प्रतिक्रमण आता हो, उनसे मैं पूछता हूं कि प्रतिक्रमण में "पर पाखण्ड" आता है, इसका अर्थ क्या है? यदि पाखण्ड का अर्थ केवल दम्भ होता है, तो इसके पहले 'पर' लगाने की क्या आवश्यकता थी? क्योंकि जैसे पराया पाखण्ड बुरा है, वैसे ही अपना पाखण्ड भी तो बुरा होना चाहिए, फिर 'पर' क्यों लगाया? केवल यही कहा जाता कि "मैंने यदि पाखण्ड की प्रशंसा की हो, तो तस्समिच्छामि दुक्कड" किन्तु ऐसा न कहकर "पर पाखण्ड" क्यों कहा है?

पाखण्ड का एक अर्थ दम्भ भी है। दूसरे के धर्म को खण्डन करने के लिये भी लोग पाखण्ड शब्द का प्रयोग करते हैं। जैसे, एक दूसरे पर कटाक्ष करते हुए शैव, वैष्णव को और वैष्णव शैव को इसी प्रकार जैनधर्मावलम्बी इतर धर्मावलम्बियों को और इतर धर्मावलम्बी जैन धर्मावलम्बियों को पाखण्डी कहते हैं। परन्तु पाखण्ड शब्द का अर्थ सब जगह यानी सर्वत्र, दम्भ मानना, जैन शास्त्र से सम्मत नहीं है। पापों का नाश करनेवाले व्रत का नाम भी पाखण्ड है ऐसा वर्णन जैन शास्त्रों में आया है। ठाणांग-सूत्र में पाखण्डधर्म कहा है, उसमें मुनियों के धर्म का भी समावेश है। और प्रश्नव्याकरण-सूत्र

के दूसरे सम्बरद्वार में ऐसा पाठ आया है

" अणेग पासंडि परिग्गहित "

टीका अनेक पाखण्डि परिगृहीत-नाना विध व्रतिभिरङ्गीकृत ।
अर्थात्-अनेक प्रकार के व्रतधारियों से स्वीकार किया हुआ ।

व्रत का नाम पाखण्ड है और वह व्रत जिसमें हो, उसे पाखण्डी कहते है । उन पाखण्डियों से धारण किये हुए होने के कारण सत्य व्रत " अनेक पाखण्डी परिगृहीत " कहागया है ।

यदि पाखण्ड शब्द का अर्थ केवल बुरा ही होता, तो दशवैकालिक सूत्र में समण शब्द की व्याख्या करते हुए —

पव्वइए, अणगारे, पासण्डे, चरग तावसे भिक्खू ।
परिवाइए य समणे निग्गंथे संजए मुत्ते ॥

श्रमण को अणगार, पाखण्डी, प्रवर्जित, निर्ग्रन्थ, संजती आदि क्यों कहते ? और प्रश्न व्याकरण सूत्र में भी पाखण्डी को व्रती क्यों कहा जाता ?

शास्त्र में पाखण्ड नाम व्रत का है । क्योंकि व्रत पापसे रक्षा करता है । व्रत से पाप का खण्डन होता है, इसलिये वह व्रत-आचार जिसमें हो, उसका नाम पाखण्डी है ।

पाखण्ड, धर्म और दम्भ दोनों का नाम है । ग्राम, नगर और राष्ट्र में फैलनेवाले दम्भ को अधर्म कहते है । वह, पाखण्ड-अधर्म कहा जायगा । उसे कोई पाखण्ड-धर्म कैसे कह सकता है ? क्योंकि धर्म से रक्षा होता है और अधर्म से नाश ।

यहा, पाखण्ड शब्द का अर्थ पाप नहीं है, बल्कि लौकिक

तथा लोकोत्तर व्रतों का पालन है। गृहस्थाश्रम में रहकर जो व्रत पालन किये जाते हैं, उनका भी समावेश इसी में होता है। शास्त्र कहता है -

" गिही वासे वि सुव्वया "

अर्थात गृहस्थाश्रम में रहकर सुव्रत का पालन करता है, उसे सुव्रती कहते हैं।

धृति आदि सद्गुणों का पालन करना भी सुव्रत कहा जाता है। जैसे कहा है —

" धृत सत् पुरुष सुव्रता "

जो सत्पुरुष धृति आदि नियमों का पालन करता है, उस का नाम सुव्रती है।

प्रकृति उदार होने से उसे चाहे जितनी विपत्तियें घेरें, किन्तु वह सदाचार को न त्यागे, उसे सुव्रती कहा है। जिस जगह ये ज्यादा होंगे, वही ग्राम, देश और नगर सुरक्षित होता है। नीति में कहा है —

"प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम्,
असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यस्तनु धनः।
विपद्युच्चैः स्थेयं, पदमनुविधेयं च महतां,
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ? ॥"

अर्थात्-विपत्ति पड़नेपर ऊँची जगह पर रहना और बड़े लोगों के मार्ग से चलना। न्यायानुकूल जीविका में प्रेम रखना और प्राण निकलजाने पर भी पाप कर्म न करना तथा असज्जनों

की किसी चीज के लिये याञ्चा न करना और थोडे धनवाले मित्र से भी नहीं मागना। यह बडाही कठिन असिधारा व्रत सज्जनों को किसने सिखलाया था ? अर्थात्–बिना ही किसी के सिखलाये ये सब गुण सज्जनों में स्वाभाविक ही होते हैं।

जिस समय, ग्राम–धर्म, नगर-धर्म और राष्ट्र-धर्म इन तीनों धर्मों का समुचित–रूपेण पालन होता है, तब व्रत-स्वरूप पारगट धर्म की उत्पत्ति होती है और उस धर्म के उदय होने पर ऐसे धर्म शील मनुष्य पदा होते है जो कठिन से कठिन व्रतों का भली भांति पालन करके उच्च आदर्श उपस्थित करते है। ये व्रतधारी, कष्ट में ऐसे धैर्यवान और अडिग होते है, जैसे–मेरु। सब देश और सब जाति म ऐसे मनुष्य पैदा होते हैं कि लाख कष्ट होने पर भी धर्म न छोडें। ऐसे ही व्रतधारी-मनुष्यों को सुव्रती कहा है।

धर्म की जो सीमा महापुरुषों ने बाधी है, उसको छोडकर सकट में भी कुपन्थ पर न जाय, यह सुव्रती का व्रत है। सुव्रती को न्याय–वृत्ति प्रिय होती हैं। वह चाहे भूखों मरजाय, परन्तु उसे अन्याय कदापि प्रिय नहीं हो सकता। बडे से बड़ा कष्ट पड़े, किन्तु अन्याय से पैदा किये हुए पैसे को वह कभी स्पर्श तक न करेगा।

आज, एक पैसे के लिये भी लोग झूठ बोलने को तयार रहते हैं। सोचते हैं कि "सामायक में बैठे, उतनी देर धर्म है, बाकी दूकान पर तो मन पाप ही पाप है'। इसी नीच-विचार से पाप होते हैं।

जो मनुष्य सुव्रती हैं, वे प्राण-भङ्ग होने पर भी मलिन आचरण करने का विचार तक नहीं करते। सुदर्शन श्रावक ने प्रसन्नता पूर्वक शूलीपर चढ़ना स्वीकार करलिया, किन्तु अभयारानी की प्रार्थना स्वीकार नहीं की। श्रावक ही ऐसे होते हैं, यह बात नहीं है। जोधपुर के राठोड़ दुर्गादास को देखो। उसे औरङ्गज़ेब की बेगम गुलेनार ने दिल्ली का तख्त देने का लालच दिया, और प्रार्थना की कि मुझे अपनाओ। उसने यह भी कहा कि आप यदि मुझे स्वीकार करें, तो मैं आज ही बादशाह को मारकर आपको दिल्ली का सम्राट् बनादू। किन्तु दुर्गादास ने उत्तर दिया कि "तू मेरी मा है"। जब गुलेनार ने अपने प्रलोभन को निष्फल होते देखा, तो उसने दूसरा मार्ग ग्रहण किया। दुर्गादास को डाटने लगी कि यदि तुम मेरी प्रार्थना स्वीकार न करोगे, तो यह मेरा लश्कर कामबख्श खड़ा है, मैं अभी तुम्हारी गर्दन कटवा दूंगी। दुर्गादास ने कहा—"मैं इसकी परवाह नहीं करता, मुझे अपने प्राणों की अपेक्षा अपना सद् आचारण अधिक प्रिय है"।

ऐसे मनुष्य को श्रावक न होने पर भी ऐसी न्यायवृति रखने के कारण क्या न्यायी पुरुष न कहेंगे?

जो मनुष्य सुव्रती है, वह अपने मित्र से भी कभी याचना नहीं करता कि तू मुझे दे। उसका यह मन होता है कि मित्र को देना चाहिये, उससे मागना न चाहिए। यह बात दूसरी है कि मित्र स्वयं कष्ट मे देखकर उन्हें कुछ दे और वे लेलें। किन्तु

कठिन से कठिन कष्ट में पड़कर भी अपने मुह से किसी को यह न कहेंगे कि हमें कुछ दो।

साराश यह है कि पाखण्ड शब्द के माने हैं व्रत और लौकिक तथा लोकोत्तर व्रतों के धारण करनेवाले मनुष्यों को पाखण्डी कहते है। जिस धर्म से व्रतों का सुचारु-रूप से पालन होसके, उसे शास्त्र कारों ने पाखण्ड-धर्म कहा है।

कुल धम्मे।

"कुल धम्मे" यानी कुल धर्म अर्थात् कुलाचार रूपी धर्म उस धर्म को कहते है, जिसके पालन से कुल, पतित-अवस्था से निकलकर उच्च अवस्था में प्राप्त हो। अथवा यों कहें कि दुर्गुणों से निकलकर सद्गुणों में स्थापित हो।

जिस समय,देश में ग्रामधर्म, नगर धर्म राष्ट्र-धर्म,और पाखण्ड धर्म का अच्छी तरह पालन होता है, तब कुलधर्म की भी वृद्धि होती है। या यों कहें कि उस समय की प्रजा कुल-धर्म पालने में दृढ़ होती है।

कुलधर्म के दो भेद है। एक लौकिक दूसरा लोकोत्तर।

जिस धर्म के पालन से वश की उन्नति हो और दुर्व्यवस्था मिटकर सदाचार की वृद्धि हो, कुल की ख्याति हो, उसे लौकिक कुल-धर्म कहते है।

कुछ लोग कहते है कि सूत्र-चारित्र्य धर्म तो धर्म हैं, बाकी के सब धर्म पाप है। उनसे पूछना चाहिए कि क्या अच्छे कामों

द्वारा कुल को ऊंचा चढाना भी पाप है ? और यदि ऊंचा चढाना पाप है, तो क्या अधोगति में डालना धर्म है ?

लौकिक कुल-धर्म के पालनेवाले एक-एक ऐसे-ऐसे होते हैं कि चाहे उनके प्राण चले जाय, किन्तु पूर्वजों के अच्छे-व्यवहार को नहीं छोडते। चाहे एक-एक अन्न के कण के लिये उन्हें तरसना पड़े, किन्तु न तो कभी चोरी करेंगे और न कभी झूठ बोलेंगे। यह उच्चता उनमें केवल अपने कुल का धर्म पालने के ही कारण आती है।

एक मनुष्य कुल को ऊंचा करने तथा दूसरा-मनुष्य कुल को नीचा करने का काम करता है। इन दोनो में कुछ अन्तर है, या दोनों ही बराबर हो जायेंगे ?

"बहुत अन्तर है"

सूत्र चारित्र्य धर्म तो सम-दृष्टि होने पर आते हैं। किन्तु यदि किसी मनुष्य में सूत्र-चारित्र्य धर्म का उदय न हुआ हो, तो क्या उसे कुल धर्म का पालन न करना चाहिये ?

नाना प्रकार के सङ्कट सहकर भी, जो मनुष्य कुल-धर्म की रक्षा के लिये कभी चोरी, व्यभिचारादि अधर्म नहीं करता, उसे इस कुल धर्म के पालन के कारण जो पापी कहे, उसकी बुद्धि के विषय में क्या कहें ?

कुल धर्म को पाप बतलानेवाले, कभी यह सोचने का कष्ट नहीं करते कि जो मनुष्य कुल धर्म का ही पालन न करेगा, वह सूत्र चारित्र्य-धर्म का पालन कब कर सकता है ? इसके अतिरिक्त जब

कुल धर्म ही नष्ट हो जायगा, तो सूत्र चारित्र्य धर्म टिकेगा किस पर ?

कई कहनेवाले एक ऐसी दलील देते हैं कि जिस काम की आज्ञा अरिहन्त दें, वह धर्म है और जो काम अरिहन्त की आज्ञा में न हो, वह पाप में है। यह कहना भी सूत्र के नहीं जानने का परिणाम है। क्योंकि भगवान की आज्ञा तो केवल समदृष्टि ही मानता है। किन्तु कुल धर्म तो सम-दृष्टि, मिथ्या-दृष्टि सभी पालते हैं। भगवान की आज्ञा नहीं मानता है, तो क्या मिथ्यादृष्टि के कुल धर्म के अच्छे कार्य पापमय हो सकते हैं ?

"कदापि नहीं"

अतएव यह कहना कि भगवान की आज्ञा के बिना, जो कार्य किये जावें, वे एकान्त पाप हैं, मिथ्या है।

मेरा कोई शिष्य मेरी बात को न माने, तो मैं उसे क्या कहूंगा ?

"आज्ञा बाहर"

किन्तु यदि वह मेरी आज्ञा से निकलकर भी शीलका पालन करता हो, तो क्या मैं उसे कुशीला कह सकता हूं ?

"नहीं"

अरिहन्त की आज्ञा तो केवल ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य इन तीन प्रकार की है। किन्तु जिसमें ये तीनों न हों, उसे अरिहन्त की आज्ञापालन में मानना, यह कैसी विचित्र-बात है।

भगवान अरिहन्त ने केवलज्ञान पाने के बाद, केवल लोकोत्तर धर्म के पालन करने की ही आज्ञा दी है। जब, तीर्थंकर छद्मस्थपने

में गृहवास में रहते है, तब लौकिक धर्म पालन करने की आज्ञा देते है। किन्तु लौकिक तथा लोकोत्तर दोनो धर्मों का स्वरूप बतलाना छद्मस्थ और सर्वज्ञ सभी का आचार है।

कुल-धर्म का अर्थ है कुल को उंचा उठाना और अपने पूर्वजों के अच्छे से अच्छे सिद्धान्तों का उचित-रूप से पालन करना। सूत्र चारित्र धर्म का भी आधार कुल धर्म माना गया है। क्योंकि शास्त्रों में आचार्यों के गुण कहे हैं, वहा भी "जाइ सम्पन्ने" "कुल-सम्पन्ने" कहा है। अत एव कुल धर्म भी चारित्र्य धर्म के अनुकूल माना गया है।

---

६ गण-धर्म्म।

गण धर्म्म या गणधर्म उस धर्म को कहते है, जिसे पालने की गण के प्रत्येक सभ्य पर जिम्मेदारी रहती है।

'गण' समूह को कहते है, जिसे कुछ मनुष्यों ने निर्बलो की सहायता आदि के लिये बना लिया हो। जैसे नौ लच्छी और नौ मल्ली ऐसे अठारह राजाओं का एक गण बना था और सदैव निर्बलों की सहायता करता था।

गण-धर्म के पालन करने वालों का यह मत होता है कि किसी भी देश या काल म यदि सबलों के द्वारा निर्बल सताये जाते हो, तो अपना तन, मन और धन खोकर भी उनकी रक्षा करना। इसे ही प्रजा सत्तात्मक राज्य भी कहते है।

वहिल-कुमार केवल चेडा राजा का दोहिता था। सब का

ाहीं था। परन्तु चेडा ने गण के अठारहों राजा को एकत्रित कर के, वहिलकुमार का किस्सा सुनाया कि, यह हार-हाथी देने को तयार है, परन्तु राज्य में जैसे और ग्यारह–भाइयों को हिस्सा मिला है, वैसेही इसे भी हिस्सा मिलना चाहिये। यदि इसे हिस्सा न मिले, तो फिर केवल एक को ही राज्य मिल जाना चाहिए था, अन्य भाइयों को तो हिस्सा दिया गया और इसे नहीं दिया गया, यह अन्याय है। यदि वे हिस्सा देते हों, तो यह हार–हाथी लौटाने को तैयार है और यदि वे हिस्सा न देते हों तो यह भी हार–हाथी नहीं लौटा सकता। ऐसी अवस्था में यदि आप लोग कहे, तो मैं इसको वहा भेजदू और नहीं तो कोणिक का सामना करें।

यहा मालूम होगा कि गण धर्म का क्या महत्व है और उसके पालने वालों में कितनी दृढ़ता की आवश्यकता है। आज के लोग होते, तो कह देते कि किसका लेना और किसका देना। हार-हाथी या राज्य चूल्हे में पडो, हम इस झगडे में क्यों पडें? किन्तु वे लोग ऐसे कुल में जन्मे थे, कुल धर्म के ऐसे पालने वाले और गणधर्म के ऐसे मर्मज्ञ थे कि चाहे प्राण चले जाय, परन्तु सत्य न छोडें।

उन सब ने उत्तर दिया कि वहिलकुमार अथवा हार–हाथी को वहा भेजने की आवश्यकता नहीं है, उन्हें गण की ओर से पहले सूचना दी जावे कि वे वहिल कुमार के साथ न्याय करें, अथवा युद्ध के लिये तैयार हो जायँ। आपभी तय्यारी कीजिये, हम अठारहों राजा आपका साथ देने को तय्यार हैं।

इसका नाम गणधर्म है। और भी गणधर्म के ऐसे बहुत से

उदाहरण हैं कि चाहे मरगये, सर्वस्व नष्ट होगया, किन्तु अपने धर्म के पालन से विमुख नहीं हुए।

यहा कोई यह शङ्का कर सकता है कि अच्छे काम का नाम धर्म है, परन्तु यहा तो हार–हाथी न देने से सग्राम होगा और हार-हाथी दे देने से न होगा, ऐसी अवस्था में हार–हाथी न लोटाकर सग्राम की तय्यारी की, यह धर्म कैसे हुआ ?

मै आपलोगों से पूछता हू कि साधु की वन्दना के लिये राजा सेना लेकर आवे और एक आदमी अकेला आवे, अब जीव किस से ज्यादा मरे ?

"राजा की सेना से

राजा परदेसी, केसी श्रमण से खूब चर्चा करके बिना खमाये जाने लगा। तब केसी श्रमण ने उससे कहा कि राजा! इतनी देर तक चर्चा करने में तुमने मुझसे बहुत-सी आडी-टेढी बातें की और अन्त में बिना खमाये जाते हो, क्या यह साधु की अवज्ञा नहीं है ?

राजा परदेसी ने उत्तर दिया कि, मैं इस बात को जानता हू, किन्तु मेरी यह भावना नहीं है कि मैं आपको न खमाऊ। मेरा विचार है कि मैं परिवार सहित सेना लेकर आऊ, तब आपको खमाऊ।

अब यहा सोचना चाहिये कि यदि राजा अकेला ही खमा जाता, तो जीव हिंसा कम होती और सेना लेकर खमाने आवेगा, तो जीव हिंसा ज्यादा होगी। फिर सपरिवार सेना सहित खमाने आने में क्या विशेषता है ? और जब परिवार तथा सेना के साथ आने में ज्यादा हिंसा होने की सम्भावना थी, तो केसी श्रमण ने यह

क्यों नहीं कह दिया कि सपरिवार सेना सहित वन्दना करने आकर जीवों की विराधना करने की आवश्यक्ता नहीं है, यदि तुम्हें खमाना ही है, तो अकेले ही खमाजाओ ? इसका समाधान कारक उत्तर क्या होगा ?

इस प्रश्न का मर्म विचारने से यह मालूम होता है कि राजा के अकेले नहीं खमाने का तात्पर्य यह है कि ऐसा करने से बहुजन-समाज पर धर्म का प्रभाव नहीं पड़ता । और सपरिवार सेना सहित आने से बहुजन-समाज पर धर्म का असाधारण-प्रभाव पड़ता है । इससे जैनधर्म की प्रभावना यानी जैन-धर्म का दिपाना होता है । इसी कारण से केसी-श्रमण महाराज ने सेना-सहित वन्दना करने आने का निषेध नहीं किया और आने-जाने में बहुत द्विन्द्रियादिक-प्राणियों की विराधना होने की सम्भावना अवश्य है, अतएव केसी श्रमण महाराज ने ऐसी आज्ञा भी न दी कि तुम अवश्य सपरिवार सेना सहित वन्दना को आना । केवल आरम्भ को देखें और उससे होनेवाले लाभ को न देखें, तो क्या यह न्याय हो सकता है ?

"नहीं"

राजा परदेसी मूर्ख नहीं था, बल्कि ज्ञानी था । कभी यह मानलें कि राजा को ज्ञान नहीं था, तो केसी श्रमण को तो ज्ञान था ? यदि राजा का ऐसा करना उचित नहीं था, तो उन्होंने राजा को वर्जित क्यों नहीं किया ? इसपर से समझना चाहिए कि साधु थापना-उथापना में न रहे, परन्तु जो बात उचित है, उसे कैसे मना करदे ?

थी । इन लोगा ने, उस अन्याय के प्रतिकार के लिये जो लडाई की थी, उसमें आरम्भ तो अवश्य हुआ, किन्तु इन लोगों ने अन्याय का पक्षपात नहीं किया था,बल्कि याय का पक्ष लिया था।

आरम्भ को धर्म हम भी नहीं कहते, परन्तु धर्म की रक्षा करना भी तो आवश्यक है न ? आरम्भ का नाम लेकर धर्मबुद्धि का लोप कर देने से ही जैन धर्म को लोग डरपोक समझने लगे हैं।

पहले के मनुष्य, इतने विचारशील और धर्म पालन में ऐसे दृढ थे कि युद्ध करना स्वीकार कर लिया, किन्तु शरण में आये हुए को अपनी शरण में न रखना या उसे न्याय न दिलाना स्वीकार नहीं किया ।

जो मनुष्य, अपनी शरण में आये हुए को त्याग देते हैं, वे कायर हैं । जो उदार और धर्मात्मा हैं, वेतो अपना सर्वस्व देकर भी शरणागत की रक्षा करते हैं ।

इस युद्ध में जितने मनुष्यों का वध हुआ था, उन सब के लिये कोणिक को इसलिये ज़िम्मेदार ठहराया जाता है कि उसने अन्याय का पक्ष समर्थन करके युद्ध का बीजारोपण किया था । जब इसे किसी प्रकार भी अन्याय का पक्ष छोडते न देखा, तो विवश हो गणधर्मियों ने सत्य-पक्ष का समर्थन करके शरणागत की रक्षा एवम् गण-धर्म पालनार्थ युद्ध किया । चेटा तथा नौ-मल्लि और नौ लाच्छि समदृष्टि थे और कोणिक यद्यपि पहले महावीर का भक्त था किन्तु इस समय अन्याय का पक्षपाती था।

एक मनुष्य, यदि दुष्ट भाव से प्रेरित होकर एक चींटी का

अब आपलोग प्रश्न करेंगे कि राजा परदेसी की बात तो सूत्र-धर्म की है और यहां चर्चा है गणधर्म की। यदि लड़ाई हुई तो बहुत से मनुष्य मरेंगे, अतः हम इसे उचित कैसे मान लें?

परन्तु जैसे सूत्र-धर्म में राजा यदि अकेला ही वन्दना कर लेता, तो जनता तथा सेना पर उसका प्रभाव न पड़ता, ऐसे ही गण-धर्म में यदि गणधर्मी लोग यह कह देते कि हार-हाथी देदो तो लोग उन्हें डरपोक कहते या वीर?

"डरपोक"

और यदि हार-हाथी दे देते, तो गण-धर्म का नाश होता या उसकी रक्षा होती?

"नाश होता"

प्रत्येक-मनुष्य इस बात को कहने लगता कि जब तक सिर पर नहीं बीती, तबतक तो गणधर्म का स्वांग रचा और जब सिरपर आकर पड़ी, तब धर्म को छोड़ दिया। इस कहने से गणधर्म तथा राजाओं को कलङ्क लगता या नहीं? और धर्म में से जब सत्य निकल जाता, तो धर्म का अपमान होता या नहीं?

"होता"

जिस प्रकार राजा-परदेसी के सेना लेकर वन्दना करने आने से समकित-धर्म को लाभ हुआ, उसी प्रकार इन लोगों के हार-हाथी न देने से गण-धर्म की रक्षा हुई। इस गण-धर्म की रक्षा में जितने-मनुष्यों का वध हुआ, उन सब के महान-पाप का भागी कोणिक हुआ। क्योंकि उसी ने झूठी लड़ाई मचाई

थी । इन लोगा ने, उस अन्याय के प्रतिकार के लिये जो लड़ाई की थी, उसमें आरम्भ तो अवश्य हुआ, किन्तु इन लोगों ने अन्याय का पक्षपात नहीं किया था,वरिक याय का पक्ष लिया था।

आरम्भ को धर्म हम भी नहीं कहते, परन्तु धर्म की रक्षा करना भी तो आवश्यक है न ? आरम्भ का नाम लेकर धर्मवुद्धि का लोप कर देने मे ही जैन-धर्म को लोग डरपोक समझने लगे है ।

पहले के मनुष्य, इतने विचारशील और धर्म पालन में ऐसे दृढ थे कि युद्ध करना स्वीकार कर लिया, किन्तु शरण में आये हुए को अपनी शरण में न रखना या उसे न्याय न दिलाना स्वीकार नहीं किया ।

जो मनुष्य, अपनी शरण में आये हुए को त्याग देते है, वे कायर हैं । जो उदार और धर्मात्मा हैं, वेतो अपना सर्वस्व देकर भी शरणागत की रक्षा करते हैं ।

इस युद्ध में जितने मनुष्यों का वध हुआ था, उन सब के लिये कोणिक को इसलिये जिम्मेदार ठहराया जाता है कि उसने अन्याय का पक्ष समर्थन करके युद्ध का बीजारोपण किया था । जब इसे किसी प्रकार भी अन्याय का पक्ष छोडते न देखा, तो विवश हो गणधर्मियों ने सत्य–पक्ष का समर्थन करके शरणागत की रक्षा एवम् गण–धर्म पालनार्थ युद्ध किया । चेटा तथा नौ-मल्लि और नौ लाच्छि समदृष्टि थे और कोणिक यद्यपि पहले महावीर का भक्त था किन्तु इस समय अन्याय का पक्षपाती था ।

एक मनुष्य, यदि दुष्ट भाव से प्रेरित होकर एक कीड़ी का

भी वध करदे, तो यह पापी कहलायेगा, किन्तु यदि कोई चक्र-वर्ती-नरेश,अन्याय का निरोध करने के लिये अपनी चतुरङ्ग सेना युद्धार्थ सजाता है, तो वह भी अपराधी नहीं कहलाता है। इस का कारण यह है कि,सम्राट विवश होकर अन्याय अत्याचार का विरोध करता है, यदि वह ऐसा न करे तो समस्त देश में अन्याय फैल जाय और धर्म का पालन होना असम्भव होजाय। दूसरी तरफ़ चींटी मारने वाला सकल्पजा हिंसा करता है, अत वह अपराधी है।

इसी प्रकार कोणिक ने जान बूझ कर हिंसा की स्थिति उत्पन्न की और अन्याय का पक्ष लिया, अत यह निरपराध को मारने का पाप हुआ और गणधर्मियों ने केवल अन्याय रुकाने की इच्छा से विवश हो युद्ध किया, अत उनपर अन्यायपूर्ण-हिंसा की जिम्मेदारी नहीं डाली जा सकती।

७ सघ-धर्म्म।

"सघ धम्मे" या सघ-धर्म, उस धम का नाम है, जिसके पालन करने से सघ के प्रत्येक मनुष्य की उन्नति हो।

सघ-धम के दो भेद हैं। एक लौकिक सघ धम और दूसरा लोकोत्तर सघ धर्म। लौकिक सघ धम की व्याख्या करते हुए शास्त्र कहता है —

सघ धम्मो-"गोष्टी सामाचार"

अर्थात्-सघ या सभा के नियमोपनियम।

जाहिर–समाचार, जाहिर–सभा तथा जाहिर–संस्था, जिसमें सब का हक समझा जावे, सब की सुव्यवस्था का विचार हो और जिस के द्वारा सब उन्नत हों, ये सब भेद लौकिक संघ–धर्म में समा जाते हैं।

लोगों की ऐसी धारणा है कि जैन–धर्म अपूर्ण तथा अ–व्यावहारिक है। किन्तु यह कुछ तो उन लोगों की ही गल्ती है कि बिना जैन–धर्म का रहस्य समझे, केवल ऊपरी बातें देखकर ऐसा कह डालते हैं और प्रधान–दोष आजकल के उन जैन–भाइयों का है, कि जो कायरों की सी वृत्ति रखकर इस वीरों के धर्म को लजाते हैं। जैन–धर्म या जैन–शास्त्रों में सारे संसार के विचार भरे पड़े हैं।

जाहिर–समाचार, जाहिर–सभा तथा जाहिर–संस्था में सारे संघ अर्थात् सारी प्रजाका हित देखा जाता है। जिस धर्म में, हिन्दू, मुसलमान या और किसी एक ही समाज का हित विचारा जाता हो, उसे हम कुलधर्म तो कह सकते हैं, किन्तु सम्पूर्ण राष्ट्र का संघ धर्म नहीं कह सकते।

राष्ट्र का सम्पूर्ण संघ–धर्म ठीक उसी प्रकार का है, जैसे नेशनल कांग्रेस। ऐसे संघ–धर्म के अनुसार जो सभा या संस्था स्थापित हो, उस में समष्टि के विरुद्ध किसी व्यक्ति–विशेष के हानि-लाभ के वास्ते, समष्टि के कानून का भङ्ग करना तथा अपने स्वार्थ की बात घुसेड़कर समष्टि के अनुपकारी कामों को स्थान देना संघ धर्म का नाश करना है। यहां, केवल उन्हीं बातों का विचार

भी वध करदे, तो वह पापी कहलायेगा, किन्तु यदि कोई चक्र-वर्ती-नरेश,अन्याय का विरोध करने के लिये अपनी चतुरङ्ग सेना युद्धार्थ सजाता है, तो वह भी अपराधी नहीं कहलाता है। इस का कारण यह है कि,सम्राट विवश होकर अन्याय अत्याचार का विरोध करता है, यदि वह ऐसा न करे तो समस्त देश में अन्याय फैल जाय और धर्म का पालन होना असम्भव होजाय। दूसरी तरफ कीड़ी मारने वाला सकल्पना हिंसा करता है, अत वह अपराधी है।

इसी प्रकार कौणिक ने जान बूझ कर हिंसा की स्थिति उत्पन्न की और अन्याय का पक्ष लिया, अत वह निरपराध को मारने का पाप हुआ और गणधर्मियों ने केवल अन्याय दबाने की इच्छा से विवश हो युद्ध किया, अत उनपर अन्यायपूर्ण-हिंसा की जिम्मेदारी नहीं डाली जा सकती।

७ संघ-धम्मे।

"संघ धम्मे' या संघ-धर्म, उस धर्म का नाम है, जिसके पालन करने से संघ के प्रत्येक मनुष्य की उन्नति हो।

संघ-धर्म के दो भेद हैं। एक लौकिक संघ धर्म और दूसरा लोकोत्तर संघ धर्म। लौकिक संघ धर्म की व्याख्या करते हुए शास्त्र कहता है —

सघ धम्मो-'गोष्ठी सामाचार"

अर्थात्-संघ या सभा के नियमोपनियम।

जाहिर-समाचार, जाहिर-सभा तथा जाहिर-सस्था, जिसमें सब का हक समझा जावे, सब की सुव्यवस्था का विचार हो और जिस के द्वारा सब उन्नत हों, ये सब भेद लौकिक सघ-धर्म में समा जाते है।

लोगों की ऐसी धारणा है कि जैन-धर्म अपूर्ण तथा अ-व्यावहारिक है। किन्तु यह वुधतो उन लोगों की ही गल्ती है कि बिना जैन-धर्म का रहस्य समझे, केवल ऊपरी बातें देखकर ऐसा कह डालते हैं और प्रधान-दोष आजकल के उन जैन-भाइयों का है, कि जो कायरों की सी वृत्ति रखकर इस वीरों के धर्म को लजाते हैं। जैन-धर्म या जैन-शास्त्रों में सारे ससार के विचार भरे पड़े हैं।

जाहिर-समाचार, जाहिर-सभा तथा जाहिर-सस्था में सारे सघ अर्थात् सारी प्रजाका हित देखा जाता है। जिस धर्म में, हिन्दू, मुसलमान या और किसी एक ही समाज का हित विचारा जाता हो, उसे हम कुलधर्म तो कह सकते हैं, किन्तु सम्पूर्ण राष्ट्र का सघ धर्म नहीं कह सकते।

राष्ट्र का सम्पूर्ण सघ-धर्म ठीक उसी प्रकार का है, जैसे नेशनल कांग्रेस। ऐसे सघ-धर्म के अनुसार जो सभा या सस्था स्थापित हो, उस में समष्टि के विरुद्ध किसी व्यष्टि-विशेष के हानि-लाभ के वास्ते, समष्टि के कानून का भङ्ग करना तथा अपने स्वार्थ की बात घुसेड़कर समष्टि के अनुपकारी कामों को स्थान देना सघ धर्म का नाश करना है। यहा, केवल उन्हीं बातों का विचार

होना उचित कहा जाता है, जो सघ की अधिक से अधिक व्यक्ति यों के लिये लाभ प्रद हो। जैसे अखिल-भारतीय-सघ अर्थात्-ऑल-इण्डिया नेशनल कांग्रेस ने निश्चित किया कि विलायती वस्त्र भारत में न आने पावे। इस ठहराव से यद्यपि थोड़े से कपड़े के व्यापारियों की हानि है, तथापि करोड़ों-गरीबों की हानि का विचार न कियाजावे, तो यह सघ-धर्म की हानि है। अत, इस ठहराव की अवहेलना करके जो व्यौपारी सघ-धर्म से छल कपट करता है, वह सघ-धर्म का नाश करता है। यदि निष्कपट भाव से सघ-धर्म का समुचित-रूपेण पालन किया जाय तो सघ का बहुत-अधिक लाभ होने की सम्भावना है।

जो बुद्धिमान मनुष्य हैं, वे केवल अपने स्वार्थ के लिये दुनिया का अहित नहीं चाहते। यह उदारता जहा के मनुष्यों में होती है, वहा के सघ का अहित कभी नहीं होने पाता। उदाहरणार्थ मानलीजिए कि एक गाव के निवासी एकत्रित होकर नरेश से यह प्रार्थना करें कि गायों के चरने के लिये कोई स्थान नहीं है, अत एक मैदान गोचर-भूमि के लिये छोड़ दिया जावे। और उस मैदान की चराई या कर न लिया जावे। इस बात के स्वीकृत हो जाने से गाव के अधिक से अधिक मनुष्यों को लाभ पहुँचने की आशा है। किन्तु यदि एक मनुष्य यह सोचकर कि गांव के हानि-लाभ से अपने को क्या मतलब है, राजा का पक्ष लेने पर राज्य में अपनी इज्जत हो जायगी और शायद कोई उपा धि भी मिलजाय, गाव वालों के हित की इस बात का विरोध

करे अर्थात् उनके उपायो को असफल करने का प्रयत्न करे, तो समझना चाहिए कि वह सघ–धर्म का नाश करने वाला है। प्रजा के हित का ध्यान न रखकर राजा की तरफ होजाय और केवल अपने–स्वार्थ के लिये हजारों के गले कटवावे, यह एक साधारण–गृहस्थ के लिये भी अनुचित है तो बारह–व्रतधारी–श्रावक, यह कार्य कर ही कैसे सकता है ?

कुछ सज्जन, सघ–धर्म के इस सगठन और सघ–धर्म की रक्षा के लिये कियेजानेवाले कार्यो को एकान्त-पाप कहते हैं*। किन्तु जिस सघ–धर्म के पालन से मानव–समाज नीचकर्म छोड़ देता है और ऐसा होने से ससार के उत्थान के साथ–साथ सूत्र–चारित्र्य–धर्म के पालन के लिये क्षेत्र तैयार होता है, क्या उसी सघ–धर्म को एकान्त–पाप कहना उचित है ?

"नहीं"

सघ–धर्म के पालन में आरम्भ–समारम्भ अवश्य होते हैं, और उन्हें आरम्भ समारम्भ मानना भी चाहिए। किन्तु आरम्भ समारम्भ भी दो तरह के होते है। जैसे एक मनुष्य अपनी पुत्री के लग्न करे और दूसरा मनुष्य अपनी मा के लग्न करे। लग्न के ठाट-बाट दोनों मे होंगे, किन्तु क्या दोनों लग्न बराबर कहे जा सकते हैं ?

"कदापि नहीं"

---

* तेरहपंथियों का एसा मानना है। सम्पादक।

खर्च दोनों विवाहों में होता है, किन्तु क्या दोनों खर्च एक समान है ?

"नहीं"

किन्तु यदि कोई मनुष्य दोनों को एक समान कहे तो ?

"वह झूठ कहता है ?"

इसी प्रकार आरम्भ समारम्भ की बात को समझना चाहिए।

एक काम के करने से उन्नति होती है और साथ-साथ अनेक महान-पापों का प्रतिकार होता है। और दूसरे के करने से आरम्भ का भी पाप और उसके साथ साथ अवनति तथा महा पापों को उत्तेजना मिलती है। जिस कार्य के करने से उन्नति हो या लौकिक-धर्म का पालन हो और माहान पापों का प्रति कार हो, उसके न करने से भी अवनति होती है और महान पाप कर्मों को उत्तेजना मिलती है। यह जानते हुए भी,जो करने योग्य काम हैं, उन्हें पाप कहकर जो नहीं करते हैं, वे अपनी अवनति के साथ-साथ पापों की वृद्धि करते हैं। करने योग्य कार्यों को एकान्त-पाप कहकर लोग अपनी अवनति न करके और पापों की वृद्धि न करें, इसीलिये संघ धर्म की स्थापना होती है।

अबतक, संघ धर्म के लौकिक-पक्ष के विषय में कुछ बतलाया गया है, अब लोकोत्तर संघ धर्म के विषय में कुछ कहते हैं।

जिस धर्म के पालन से साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका

ऐसे चतुर्विध-सघ की उन्नति हो, वह लोकोत्तर सघ-धर्म है। लोकोत्तर सघ धर्म में भी व्यक्तिगत-लाभ न देखकर, जिससे सारे सघ को लाभ हो, वह बात देखनी और करनी चाहिए।

यदि कोई यह कहे कि सघ धर्म तो सूत्र और चारित्र्य धर्म में बटगया, फिर यहा उसका अलग वर्णन क्यों किया ? तो उस का यह कथन गलत है। सूत्र और चारित्र्य-धर्म पृथक् पदार्थ हैं और सघ-धर्म एक निराली-चीज है। सघ धर्म में सघ के गृहस्थी और साधु इन दो भागों के अलग-अलग कर्तव्य बतलाये गये हैं। इन दोनों के कर्त्तव्य यदि विभक्त न कर दिये जायँ, तो सघ का चल सकना कठिन हो जाय। इस बात का निम्नोक्त उदाहरण से स्पष्ट करते हैं।

एक मनुष्य कपड़े की दूकान करता है और दूसरा जवाहिरात की। यद्यपि लौकिक--सघ का विचार करते समय, दोनों समान समझे जावेंगे, तथापि वे एक दूसरे का कार्य करने में असमर्थ हैं। यानी, यदि जौहरी को कपडे की और बजाज को जवाहिरात की दुकान पर बिठा दें, तो दोनों ही दुकानें नष्ट हो जावेंगी।

इसी प्रकार गृहस्थी और साधु मिलकर ही सघ बनता है, और सारे सघ का प्रश्न उपस्थित होने पर सब एक समान गिने जाते हैं, किन्तु जिस प्रकार जौहरी बजाज की और बजाज जौहरी की जवाबदारी नहीं सम्हाल सकते, उसी प्रकार साधु श्रावक की और श्रावक साधु की जवाबदारी भी पूरी नहीं कर सकते। यदि

खर्च दोनों विवाहों में होता है, किंतु क्या दोनों खर्च एक समान हैं ?

"नहीं"

किन्तु यदि कोई मनुष्य दोनों को एक समान कहे तो ?

"वह झूठ कहता है"

इसी प्रकार आरम्भ समारम्भ की बात को समझना चाहिए। एक काम के करने से उन्नति होती है और साथ-साथ अनेक महान-पापों का प्रतिकार होता है। और दूसरे के करने से आरम्भ का भी पाप और उसके साथ साथ अवनति तथा महा पापों को उत्तेजना मिलती है। जिस कार्य के करने से उन्नति हो या लौकिक-धर्म का पालन हो और माहान पापों का प्रतिकार हो, उसके न करने से भी अवनति होती है और महान पाप कर्मों को उत्तेजना मिलती है। यह जानते हुए भी,जो करने योग्य काम हैं, उन्हें पाप कहकर जो नहीं करते हैं, वे अपनी अवनति के साथ-साथ पापों की वृद्धि करते हैं। करने योग्य कार्यों को एकान्त-पाप कहकर लोग अपनी अवनति न करके और पापों की वृद्धि न करें इसीलिये संघ-धर्म की स्थापना होती है।

अबतक, संघ धर्म के लौकिक-पक्ष के विषय में कुछ बतलाया गया है, अब लोकोत्तर संघ धर्म के विषय में कुछ कहते हैं।

जिस धर्म के पालन से साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका

ऐसे चतुर्विध-सघ की उन्नति हो, वह लोकोत्तर सघ-धर्म है। लोकोत्तर सघ-धर्म में भी व्यक्तिगत-लाभ न देखकर, जिससे सारे सघ को लाभ हो, वह बात देखनी और करनी चाहिए।

यदि कोई यह कहे कि सघ-धर्म तो सूत्र और चारित्र्य-धर्म में घटगया, फिर यहा उसका अलग वर्णन क्यों किया ? तो उस का यह कथन गलत है। सूत्र और चारित्र्य-धर्म पृथक् पदार्थ हैं और सघ-धर्म एक निराली-चीज है। सघ धर्म में सघ के गृहस्थी और साधु इन दो भागों के अलग-अलग कर्तव्य बतलाये गये हैं। इन दोनों के कर्तव्य यदि विभक्त न कर दिये जायँ, तो सघ का चल सकना कठिन हो जाय। इस बात का निम्नोक्त उदाहरण से स्पष्ट करते हैं।

एक मनुष्य कपड़े की दूकान करता है और दूसरा जवा-हिरात की। यद्यपि लौकिक-सघ का विचार करते समय, दोनों समान समझे जावेंगे, तथापि वे एक दूसरे का कार्य करने में असमर्थ हैं। यानी, यदि जौहरी को कपड़े की और बजाज को जवाहिरात की दुकान पर बिठा दें, तो दोनों ही दुकानें नष्ट हो जावेंगी।

इसी प्रकार गृहस्थी और साधु मिलकर ही सघ बनता है, और सारे सघ का प्रश्न उपस्थित होने पर सब एक समान गिने जाते हैं, किन्तु जिस प्रकार जौहरी बजाज की और बजाज जौहरी की जवाबदारी नहीं सम्हाल सकते, उसी प्रकार साधु श्रावक की और श्रावक साधु की जवाबदारी भी पूरी नहीं कर सकते। यदि

साधु की जवाबदारी को श्रावक पर डाल दें, तो वह निश्चय ही नष्ट होजाय। जैसे एक बालक को, जो दूध पीकर ही जीवित रह सकता है, यदि कोई साध्वी आँचल पिलावे तो ?

"दोष लगे"

किन्तु यदि कोई गृहस्थी बाई यह कहकर कि साध्वी को बच्चा पिलाने में पाप लगता है, इस लिये मैं भी अपने बच्चे को दूध न पिलाऊंगी, बालक को दूध न पिलावे, तो आप लोग उसे क्या कहेंगे।

"निर्दयी"

शास्त्र ने श्रावकों के लिये पहले अणुव्रत के पांच अतिचार कहे हैं। उनमें भातपानी का विछोह करना भी एक अतिचार है। और साधु यदि किसी जानवर आदि को भात-पानी दे, तो अतिचार कहा है। अब यदि साधु का भार श्रावक पर डाल दिया जावे तो श्रावक के धर्म का पालन कैसे हो सकता है।

कुछ लोग कहते हैं कि बस यह सीख लेने से कि "जो काम साधु करें वह धर्म और जो काम साधु न करें, वह पाप है" श्रावक समकित पाजाता है *। इसी में उन्होंने अपनी समझ से सब शास्त्रों का सार भर दिया है। किन्तु प्रत्येक को अपनी अपनी जवाबदारी समझाये बिना सब धर्म की कितनी क्षति होगी, इसबात को सोचने का उन्हों ने कष्ट भी नहीं किया। और न यही विचार किया कि श्रावक वे काम करके अपना श्रावक धर्म कैसे चला सकता है, जो केवल संसार त्यागी साधुओं के लिये ही निश्चित किये गये हैं।

---

* तेरापन्थ सम्प्रदाय के ग्रन्थों की यह परम्परा है—सम्पादक।

एक साधारण घर में भी जब प्रत्येक मनुष्य का पृथक् पृथक् कार्यक्रम रहता है, तो इतने बड़े संघ का काम, बिना विभाजित कार्य प्रणाली के कैसे चल सकता है ? मानलीजिये कि एक साहुकार के चार पुत्र–वधू हैं। एक की गोदी में शिशु है, दूसरी गर्भवती है, तीसरी बाँझ है और चौथी नवोढा है। अब, यदि सासू इन चारों के खान–पान, उठना–बैठना, काम–काज आदि की पृथक्–पृथक व्यवस्था न करके सब को एकही ढङ्ग से रखे, तो क्या हो ?

" नुक्सान होजाय "

साधुओं में भी कोई जिन कल्पी है, कोई थीवर कल्पी है, कोई रोगी है और कोई तपस्वी है। इन सब का यदि बारीक-विचार से धर्म न बाँधा जाय, तो कदापि निर्वाह नहीं हो सकता। जब साधुओं में ही भीतरी–भेदों का बिना अलग–अलग धर्म बाँधे निर्वाह नहीं है, तो साधु और श्रावक का निर्वाह एक–धर्म पालने से कैसे हो सकता है ? साधुओं की आवश्यकताएँ बहुत थोड़ी हैं और श्रावकों की बहुत–ज्यादा। यदि ऐसा न होता, तो लोग साधु से श्रावक बनते ही क्यों ? इसीलिये न कि हमें आरम्भ–समारम्भ में न पड़ना पड़े और हमारी आवश्यकताएँ कम से कम हों। यदि साधु और श्रावक का एकही धर्म है, तो ऐसा कहने वालों ने दीक्षा क्यों ली ? श्रावक रहकर ही उस धर्म का पालन करते। साधु श्रावक तो और बात हैं केवल श्रावक–श्रावक को ही लीजिये। एक श्रावक ऐसा है कि अपने घर में अकेला ही है और ५–७ रुपये मासिक-व्यय से अपना निर्वाह

साधु की जबाबदारी को श्रावक पर डाल दें, तो वह निश्चय ही नष्ट होजाय। जैसे एक बालक को, जो दूध पीकर ही जीवित रह सकता है, यदि कोई साध्वी आँचल पिलावे तो?

"दोष लगे"

किन्तु यदि कोई गृहस्थी बाई यह कहकर कि साध्वी को बचा पिलाने में पाप लगता है, इस लिये मैं भी अपने बच्चे को दूध न पिलाऊँगी, बालक को दूध न पिलावे, तो आप लोग उसे क्या कहेंगे।

"निर्दयी"

शास्त्र ने श्रावकों के लिये पहले अणुव्रत के पांच अतिचार कहे हैं। उनमें भातपानी का विछोह करना भी एक अतिचार है। और साधु यदि किसी जानवर आदि को भात-पानी दे, तो अति चार कहा है। अब यदि साधु का भार श्रावक पर डाल दिया जावे तो श्रावक के धर्म का पालन कैसे हो सक्ता है।

कुछ लोग कहते हैं कि बस यह सीख लेने से कि "जो काम साधु करें वह धर्म और जो काम साधु न करें, वह पाप है" श्रावक समकित पाजाता है *। इसी में उन्होंने अपनी समझ से सब शास्त्रों का सार भर दिया है। किन्तु प्रत्येक को अपनी अपनी जबाबदारी समझाये बिना सब धर्म की कितनी क्षति होगी, इसबात को सोचने का उन्हों ने कष्ट भी नहीं किया। और न यही विचार किया कि श्रावक ये काम करके अपना श्रावक धर्म कैसे चला सक्ता है, जो केवल ससार त्यागी साधुओंके लिये ही निश्चित किये गये हैं।

---

* तेरहपन्थ सम्प्रदाय के सब भूखों की यह धारणा है—सम्पादक।

एक साधारण घर में भी जब प्रत्येक मनुष्य का पृथक् पृथक् कार्यक्रम रहता है, तो इतने बड़े संघ का काम, बिना विभाजित कार्य-प्रणाली के कैसे चल सकता है ? मानलीजिये कि एक साहुकार के चार पुत्र-वधू हैं। एक की गोदी में शिशु है, दूसरी गर्भवती है, तीसरा वाम्फ है और चौथी नवोढा है। अब, यदि सासू इन चारों के खान-पान, उठना-बैठना, काम-काज आदि की पृथक्-पृथक् व्यवस्था न करके सब को एकही ढङ्ग से रखे, तो क्या हो ?

" नुकसान होजाय "

साधुओं में भी कोई जिन कल्पी है, कोई थीवर कल्पी है, कोई रोगी है और कोई तपस्वी है। इन सब का यदि बारीक-विचार से धर्म न बाँधा जाय, तो कदापि निर्वाह नहीं हो सकता। जब साधुओं में ही भीतरी-भेदों का बिना अलग-अलग धर्म बांधे निर्वाह नहीं है, तो साधु और श्रावक क. निर्वाह एक-धर्म पालने से कैसे हो सकता है ? साधुओं की आवश्यकताएँ बहुत थोड़ी हैं और श्रावकों की बहुत-ज्यादा। यदि ऐसा न होता, तो लोग साधु से श्रावक बनते ही क्यों ? इसीलिये न कि हमें आरम्भ-समारम्भ में न पडना पडे और हमारी आवश्यकताएँ कम से कम हों। यदि साधु और श्रावक का एकही धर्म है, तो ऐसा कहने वालों ने दीक्षा क्यों ली ? श्रावक रहकर ही उस धर्म का पालन करते। साधु-श्रावक तो और बात हैं केवल श्रावक-श्रावक को ही लीजिये। एक श्रावक ऐसा है कि अपने घर में अकेला ही है और ५-७ रुपये मासिक-व्यय से अपना निर्वाह

कर मक्ता है। दूसरा श्रावक एक राजा है और उसका बड़ा भारा परिवार भी है। अब, यदि अकेला रहनेवाला श्रावक कहे कि मैं जो करता हूँ, वही धर्म है अर्थात ५-७ रुपये मासिक व्यय में ही घर-खर्च चलाना, यही धर्म है। इससे ज्यादा व्यय करनेवाला और जितना आरम्भ मैं करता हूँ, उस से ज्यादा आरम्भ समारम्भ करनेवाला, श्रावक-धर्म पाल नहीं सकता। तो क्या उसके हिसाब से वह राजा १२ व्रतधारी श्रावक हो सकता है?

"नहीं"

शास्त्र ने प्रत्येक कोटि के व्यक्ति के लिये पृथक् पृथक् धर्म बाँध दिया है। एक मनुष्य, सोलह-देशों का राजा होने पर भी, बारह-व्रत धारण करनेवाला श्रेष्ठ-श्रावक हो सकता है। यदि इसी तरह शास्त्र-सम्मत और नीति-युक्त प्रत्येक काम को एकान्त-पाप बतलाया जाता है, तो यह संघ-धर्म की हानि करनी है। कोई भी उदार-वृत्तिवाला मनुष्य, ऐसी संकुचितता के कारण संघ में नहीं आसकता।

उपरोक्त बातों से सिद्ध है कि साधु का आचार भिन्न और श्रावक का आचार-धर्म भिन्न है। जो लोग यह कहते हैं कि साधु-श्रावक दोनों का एकही आचार-धर्म है वे भूल करते हैं।

किन्तु, आजकल संघ धर्म भी चक्कर में पड़ा है। संघ की समुचित-व्यवस्था न होने के कारण, साधु अपनी जवाबदारी श्रावक पर और श्रावक अपनी जवाबदारी को साधु पर डालते हैं।

जैसे–पाठशाला चलाना, गुरुकुल खोलना, कार्यालय की व्यवस्था करना, गौरक्षा अथवा अनाथ–रक्षा का प्रबन्ध करना, आदि। यद्यपि ये सब बातें ऊँची–नीची दया और परोपकार की अवश्य हैं, किन्तु यदि साधु इस प्रपञ्च में पड़े कि हमारा काम गुरुकुल खुलवाने का है, तो यह ठीक नहीं है। यदि यह कहाजाय कि साधु उपकार न करें, तो फिर कौन करे? तो मैं पूछता हूँ कि यदि ऐसे उपकार कि जिनमें अनेक आरम्भादि क्रियाएं करनी पड़ती हैं साधु ही करने लग जायगे, तो श्रावक–लोग क्या करेंगे? जब श्रावकों की जिम्मेदारी का काम साधु ने ले लिया, तो क्या साधु के पञ्च–महाव्रतों का पालन श्रावक करे? यदि श्रावक का काम साधु लेलें, तो श्रावक तो पञ्च–महाव्रतों को पूर्ण–रूप से पालन करने में असमर्थ है ही, अत पञ्च–महाव्रत की तो इस तरह हानि ही होगी न?

साधु होकर किसी को सलाह दे कि अमुक- सस्था को एक-हजार रुपये देदो, या ऐसा स्पष्ट न कहकर यों कहें कि रुपयों का मोह उतारदो या पुद्गलों का त्याग करदो। उस रुपये देनेवाले को यह मालूम नहीं है कि इन रुपयों का क्या होगा, किन्तु उसने साधु के कहने से रुपया देदिया। साधुजी ने रुपया दिलाया है, अत उसके हिसाबकिताब और देख-रेख की जवाबदारी साधु की है। यदि सस्था में पोल चली और उन रुपयों का अनुचित व्यय हुआ, तो इस विश्वासघात का पाप साधु पर है। क्योंकि उनकी ही साख-पर, देनेवाले ने रुपये दिये हैं। और यदि साधुजी उन रुपयों का

हिसाब किताब उस संस्था में खुद ही रख, तो वे महा-व्रतधारी नहीं हो सकते। ऐसी दशा में साधु किसी संस्था में रुपये देने को कैसे कह सकता है?

कई संस्थाओं में वर्तमानकाल में पोल चल रही है। स्वार्थ त्यागी या लायक-मनुष्यों की पहचान नहीं रही और जो उठा, वही संस्था स्थापित करने के लिये तैयार हो जाता है। ऐसे नये नये संस्था पैदा करनेवालों की परीक्षा किये बिना ही, साधु लोग, उनसे नियम-विरुद्ध सहयोग करते और साधुपने का ह्रास करते हैं।

मैंने किसी से कहा कि तुम अमुक काम में दस हजार रुपये देदो। या यों स्पष्ट न कहकर, किसी और तरीके से कहा और उसने दे दिये। मैंने ये रुपये दिलाये हैं। अत इन रुपयों के हिसाब किताब की जिम्मेदारी मेरी हुई न? अब मुझे उन रुपयों के खर्च की देखरेख करना और हिसाब-किताब ठीक रखना चाहिये या साधु पने का काम करना?

जो काम श्रावक के करने योग्य हैं, वे श्रावक को और जो साधु के करने योग्य हैं, वे साधु को करने चाहियें। साधु, यदि श्रावक के काम करने लगे, अर्थात् दिन भर रुपयों की चिन्ता करता रहे, तो वह आत्म-चिन्तन क्या करेगा? ऐसी दशा में उसका साधुपना कैसे स्थिर रह सकता है?

जिसमें थोडा आरम्भ और अधिक उपकार हो, ऐसे कार्य श्रावक लोग सदा से करते आये हैं। जैसे-केसी महाराज ने चित प्रधान से कहा था कि परदसी राजा जब मेरे पास आता ही नहीं,

है, तो मैं उपदेश किसे दूं? इससे मालूम होता है कि राजा-परदेशी को केसी महाराज के पास लाना, श्रावकों का कर्तव्य था, साधुओं का नहीं। यदि यह साधुओं का कर्तव्य होता, तो केसी महाराज ही किसी साधु को भेजकर उसे बुलाते। किन्तु परदेसी राजा को चित्त-प्रधान लायाथा। मतलब यह कि साधु, साधुओं के योग्य और श्रावक श्रावकों के योग्य कार्य करते आये हैं।

मेरे इस कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि संघ में ऐसे कार्य अर्थात् पाठशाला या गुरुकुल नहों, बल्कि मेरा कहना साधुओं से है कि उन्हें इस पञ्चायत में न पड़ना चाहिए। श्रावक को उपदेश दे देना साधु का काम है, जैसे केसी श्रमण ने राजा परदेसी को श्रावक बनाने के बाद कहा था कि "राजा! रमणीक से अरमणीक मत होजाना। इस पर से परदेसी ने स्वय राज्य के चार भाग करके एक भाग को दान में लगाना आरम्भ कर दिया। परन्तु केसी महाराज ने प्रत्यक्ष नहीं कहा कि तुम ऐसा करो। उपदेश देने पर श्रावक स्वय अपने कर्त्तव्य को समझ लेगा, साधुओं को स्पष्टीकरण या आग्रह करने की और श्रावकों के पीछे हाथ धोकर पड़जाने की आवश्यकता नहीं है। जिसकी शक्ति होगी और जिसकी श्रद्धा होगी, वह अपने आप सब बातें समझेगा और उपकार करेगा। साधु,किसी को शर्म में डाले,यह बहुत अनुचित है।

यदि कोई साधु यह कहे कि श्रावक लोग व्यवस्था करने तथा संस्था चलाने में असमर्थ हैं, अत यदि हम संस्था का सञ्चालन न करें, तो कार्य कैसे चले? तो मेरा उनसे यही कथन है कि

यदि वे इसी में सघ का कल्याण देखते है और अपने आप को बड़ा व्यवस्थापक मानते हैं, तो यदि साधुपना छोडकर, श्रावक बनकर ये कार्य करें, तो उनके विषय में फिर कुछ कहने की आवश्यकताही न रहे।

यह नियम जो बिगड रहा है, इसके ज़िम्मेदार आप लोग (श्रावक) है। क्योंकि आप लोग स्वय, ऐसे नियम विरुद्ध कार्य करनेवाले साधुओं की सहायना करते है।

साधुको पढना तो पडताही है, यदि उच्चविद्या साधुलोग न पढें, तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य का महत्व मूर्खता में जायगा। यदि अशिक्षित रहने के कारण साधु लोग शास्त्रों की शुद्ध व्याख्या या शास्त्रपाठ का शुद्ध उच्चारण न कर सकें, तो भी धर्म की हानि होने की सम्भावना रहती है। क्योंकि आज परिस्थिति बदल गई है और हमें अपना सघ टिकाना है। इसलिये साधुओं को मन शास्त्रों में निपुण होकर जैन धर्म में प्रखर ज्योति फैलाना आवश्यक है। किन्तु, साधु पढ़ लिखकर तैयार हुए और वे विचारें कि हम सम्प्रदाय-बधन में बैठे हैं, तो हमको कौन मानेगा, इससे अलग हो जाना ही अच्छा है। ऐसा सोचकर एक साधु सम्प्रदाय से अलग होगया और अपने स्वतत्रता के काम करने लगा। साधु के अविनीत होने पर आचार्य ने भी उसे छोड दिया, किन्तु आचार्य के छोड़ देने पर आपलोग उस साधु के सहायक बनगये और सम्प्रदाय-बधन न मानने या साधुपने के विरुद्ध आचरण करने पर भी उसे पूजते रहे, तो क्या वह साधु आचार्य

की पर्वाह करेगा ? जो साधु आज्ञा बाहर कर दिया जाय, उसे आपलोग पूजते रहें, तो यह आचार्य-पद की जड़ काटनी है या नहीं ?

यदि आप लोगों को ऐसे कार्य ही करने हैं, तो आपकी खुशी की बात है। किन्तु यह बात सदैव ध्यान में रखिये कि ऐसे आज्ञा बाहर साधु के सहायक बनजाना, संघ-धर्म पर कुठाराघात करना है।

जो शिष्य आज्ञा बाहर कर दिये गये हैं, उनके यदि आपलोग सहायक बनते रहेंगे, तो फिर कोई भी शिष्य आज्ञा में नहीं रह सकता। प्राय सभी स्वतन्त्र होकर कहेंगे कि इन साम्प्रदायिक बन्धनों की जरूरत नहीं है।

जो साधु, यह कहते हैं कि हमें साम्प्रदायिक बन्धनों की जरूरत नहीं है, उनसे पूछना चाहिये कि आपको जब साम्प्रदायिक-बन्धनों की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, तो फिर मुहपत्ति और वेश क्यों रखते हैं ? ऐसी दशा में कहेंगे कि बिना मुहपत्ति और वेश के हमारी पूजा कौन करेगा ? तो इसका यह मतलब हुआ कि यह मुहपत्ति और वेश, केवल पुजाने या रुपया इकट्ठा करवाने के लिये है, साधुपना पालने के लिये नहीं। और जिस साम्प्रदायिक-बन्धन के पालन करने से ही संघ-धर्म का टिकाव होता है, उसकी भी आवश्यकता नहीं मालूम देती। तो फिर संघ में ही क्यों रहना चाहिए।

साम्प्रदायिक-बन्धनों की अनावश्यकता बतलाना, यह संघ-

धर्म के नाश का चिन्ह है। यदि इसपर आपलोग विचार न करेंगे, तो सब स्वच्छन्द हो जावेंगे । ऐसी अव्यवस्था तथा विश्रृंखलता फैलजाने पर, न तो धर्म का ही महत्व रहेगा, न आचार्य पद का ही। जब कोई एक नियम न होगा और सभी स्वतंत्रतावादी होजावेंगे, तो काम कैसे चलेगा, यह बात आप ही लोग सोचें।

नेशनल-कांग्रेस का किया हुआ ठहराव, सारे भारतवर्ष का ठहराव है। यदि एक-एक मनुष्य उसमें दोष निकालने लगे, तो यह कांग्रेस का अपमान है। प्रत्येक-व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह कांग्रेस के ठहराव का ठीकतौर से पालन करे। यदि इस बंधन की जरूरत न समझकर, हर आदमी अपनी अपनी इच्छाके अनुकूल स्वतन्त्रता ढूंढे, तो राष्ट्र-धर्म या संघ धर्मका निर्वाह होना कठिन हो जाय। ठीक इसी प्रकार लोकोत्तर-संघ को भी समझना चाहिए। उसमें भी संघ के नियमों के विरुद्ध, जो व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत-स्वतन्त्रता ढूंढता है, वह संघ धर्म का नाशक है। अस्तु।

सूत्र-चारित्र्य धर्म, प्रत्येक व्यक्ति का अपना अपना धर्म है। किन्तु संघ-धर्म तो सब का है। इसलिये पहले संघ धर्म का ध्यान रखना पड़ता है। यदि संघ धर्म न होगा, तो सूत्र-चारित्र्य धर्म नष्ट होजायगा। जैसे, एक मनुष्य, अपनी सम्पत्ति की रक्षा तो करता ही है, किन्तु गांव न लुटजाय, इस बात का भी ध्यान रखना है। क्योंकि यदि ग्राम लुटगया, तो उसकी

सम्पत्ति भी सुरक्षित नहीं रह सकेगी। इसी प्रकार सूत्र-चारित्र्य-धर्म और संघ धर्म का सम्बन्ध है। सूत्र-चारित्र्य-धर्म एक मनुष्य की सम्पत्ति और संघ धर्म गांवभर की सम्पत्ति के समान है। यदि गांवकी सम्पत्ति लुटी, तो एक-मनुष्य अपनी सम्पत्ति कैसे सुरक्षित रख सकता है? इसी तरह जो मनुष्य, अपने व्यक्तिगत धर्म को सुरक्षित रखना चाहता है, उसे संघ-धर्म की रक्षा का ध्यान पहले रखना चाहिए।

संघ धर्म का इतना अधिक महत्व है, कि यदि साधु विशिष्ट अभिग्रहादिक चारित्र्य-धर्म के सहायक किसी उत्कृष्ट निर्जरा-धर्म की साधना कर रहा हो और उस समय संघ को उसकी जरूरत हो, तो उसे वह साधना छोड़कर संघ का कार्य करना चाहिए। इसके उदाहरण में भद्रबाहु स्वामी की कथा देखिये। भद्रबाहु स्वामी किसी समय एकान्त में योग साधन करते थे। इधर संघ में ऐसा विग्रह मचा, कि जबतक कोई तेजस्वी तथा प्रभावशाली-पुरुष उसे शान्त न करे, तबतक उसका शान्त होना असम्भव प्रतीत होने लगा। संघ ने मिलकर निश्चय किया कि भद्रबाहु-स्वामी के बिना, इस विग्रह का समाधान न होगा। इसलिये उनको बुलाने के लिये सन्तों को उनके पास भेजा कि वह आकर संघ का विग्रह शान्त करें।

सन्तों ने, भद्रबाहुजी के पास जाकर संघ का सन्देश कहा। सन्तों के मुंह से सारी कथा सुनकर भद्रबाहु-स्वामी ने उत्तर दिया, कि इस समय मैं योग में लगा हूं, योग पूरा होने पर आऊंगा।

सन्तों ने लौटकर सघ को भद्रबाहुजी का उत्तर कह सुनाया। उत्तर सुनकर सघ बड़े आश्चय में पडा और सोचनेलगा कि आज आचार्य के मन में यह क्या आई,कि उन्होंने केवल अपने कल्याण के लिये सघ की इसतरह उपेक्षा करदी। बडे सोच-विचार के बाद उन्हों ने सन्तों को फिर भद्रबाहुजी के पास भेजे और सन्तों ने वहा जाकर पूछा कि सघ ने यह निर्णय चाहा है, कि सघ का कार्य और योग, इन दोनों में बडा कौन है और छोटा कौन है ? अथात् आपका केवल अपने कल्याण के लिये योग करना बडा काम है, या वहा चलकर समस्त– सघ में फैले हुए विग्रह को शान्त करना ?

यह सुनकर भद्रबाहु-स्वामी अपना अभिग्रह अधूरा छोडकर सघ के पास आये और वहा आकर श्री–सघ से क्षमापना मांगा और सुनाया कि मेरे योग की अपेक्षा सघ का काय विशेष महत्वपूर्ण है। यह कह कर सघ की सान्त्वना की।

जो लोग यह विचार करते हैं, कि मुझे क्या अटकी, जो दूसरों की चिन्ता करू ? मेरे घर में कुशल रहे और मेरी कुशल रहे, बाकी कुछभी हो, ऐसे मनुष्य बड़ी भूल करते है। जिस ग्राम या देश में इस किस्म के मनुष्य रहते हैं, वह ग्राम या देश बिना गिरे नहीं रहता। भारत के मनुष्यों में जबसे ऐसे विचार घुसे हैं, तभी से भारत, छिन-भिन्न हुआ है। अब, यह भावना पलटती दिखाई देती है, सारा राष्ट्र एक होरहा है, तो सम्भव है कि कभी भारत की दशा सुधरे।

आज, जैन-सघ में भी यह भावना घुसी हुई है कि अपना

क्या अटका ? सत की सत और श्रावक की श्रावक जानें। मतलब यह कि सब का कार्य करने के समय टालटूल करते हैं। इधर-उधर चाहे समय दें, किन्तु सघ की उन्नति के कामों में ध्यान नहीं देते। इसी से सघ का काम अपूर्ण है। सघ कार्य के महत्व को यदि लोग समझने लगें, तो बड़ा कल्याण हो। भगवान ने सहधर्मी के क्लेश मिटाकर शान्ति करदेने को महानिर्जरा कहा है।

भद्रबाहु-स्वामी यह विचार कर आये थे, कि जो सघ न होता, तो मैं भद्रबाहु कैसे होता ? धर्म की रक्षा करनी अपनी ही रक्षा करनी है। किसी कवि ने कहा है -

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षिता
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो, मानो धर्मो हतोऽवधीत्

अर्थात्-जो मनुष्य धर्म को नष्ट करता है, धर्म उसे नष्ट कर देता है और जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी रक्षा धर्म करता है। यह समझकर कि नष्ट किया हुआ धर्म हमें न नष्ट करदे, कभी धर्म का नाश न करना चाहिए।

आज, सघ टुकड़े टुकड़े होगया है। उसका सगठन करना सब का कर्त्तव्य है। किन्तु इस ओर उतना ध्यान नहीं जाता। एक छोटा सा मण्डल, जिसके स्थापित हो जाने से हम सन्तों को यह सुभीता हुआ कि सघ का कार्य वह परबाहर कर लेता है, उसकी कीमत बहुत से लोग आज भी नहीं समझते और तटस्थ रहने में ही आनन्द मानते हैं। किन्तु यह नहीं सोचते कि सघबल को एकत्रित करना कितना लाभप्रद है।

सूय, इतना तपता है किन्तु उससे आग क्यों नहीं लगती? इसका कारण यह है, कि उसकी किरणें बिखरी हुई रहती हैं। किन्तु उन किरणों को एक विशेष प्रकार के काच पर एकत्रित करके उसके नीचे रुई रखो, तो आग लग उठेगी। इसी प्रकार संघ-बल भी बिखरा हुआ है। जबतक यह एकत्रित न किया जाय, तब तक संघ को किसी कार्य में सफलता मिलना बहुत ही कठिन है।

यों तो किसी बुरे काय को करने के लिये भी कुछ मनुष्य सम्प करके अपना एक संघ बनालेते हैं, किन्तु वह संघ-बल नहीं है, वह तो संघ अधम है। संघ बल, अच्छे कामों के लिये बनाये जाने वाले संघ की शक्ति को कहसकते हैं। पाच-मनुष्यों की भी शक्ति एकत्रित होजाय, तो उन पाच से पाच हजार हो सकते हैं। और बढ़ते-बढ़ते संसार में एक आदर्श शक्ति हो सकती है।

दक्षिण आफ्रिका में भारतीयों को फुटपाथ पर यूरोपियन लोग चलने तक न देते थे और रेल्वे के फर्स्ट या सेकन्ड क्लास में बैठे हुए भारतीयों को उसी दर्जे का टिकिट होने पर भी, जबर दस्ती उतारकर थर्ड क्लास में बिठा देते थे। घोड़ा गाड़ी का टिकिट लेकर कोई भारतीय गाड़ी में नहीं बैठ सकता था। गाडीवान के पास बाहर बठने के लिये मजबूर किया जाता था। एकबार ऐसे ही मामले में, गांधीजी ने बुरी तरह मार भी खाई है। परन्तु एक गांधीजी ने बिखरे हुए भारतीयों का सङ्गठन किया, तो उन यूरोपियनों को मालूम होगया, कि हां, भारतीयों में भी कोई

शक्ति है। इस सगठित-शक्ति ने भारतीयों पर होने वाले अत्याचारों का सत्याग्रह द्वारा प्रतिकार किया और भारतीयों पर लगाये गये तीन पौण्ड के कर को भी बन्द करा दिया।

आप लोग सघ बल का सगठन करें, तो कोई काम अशक्य न रहे। यदि आप लोग सघबल को विचारें, और उसके महत्व को भली भाति समझें, तो कल्याण होने में सशय न रहे।

"सूत्र-चारित्र्य-धर्म"

मोक्ष प्राप्ति के धर्म रूपी रथ के सूत्र्य और चारित्र्य धर्म नामक दो पहिये हैं। ये दोनों ही जीव को दुर्गति से बचाने के हेतु हैं।

यहां कोई प्रश्न कर सकता है, कि जब सूत्र्य-चरित्र्य धर्म का इतना घनिष्ट सम्बन्ध है, तो इन दोनों का पृथक् पृथक् वर्णन क्यों किया गया ? यह बात ठीक है कि इन दोनों का बहुत घनिष्ट-सम्बन्ध है, किन्तु इतनी घनिष्टता होते हुए भी ये दो पृथक् वस्तुए हैं। क्योंकि इन दोनों धर्मों के आचार अलग-अलग हैं। सूत्र-धर्म में प्रवृति प्रधान है और चारित्र्य-धर्म में निवृत्ति प्रधान है।

सूत्र धर्म आधार और चारित्र्य धर्म आधेय है। सूत्र-धर्म तो अकेला टिक सकता है, किन्तु चारित्र्य-धर्म, बिना सूत्र-धर्म के एक्क्षण भी नहीं ठहर सकता। चारित्र्य धर्म आने के पहले मनुष्य में समकित आदि सूत्र-धर्म आसकते है, किन्तु सूत्र-धर्म के बिना चारित्र्य-धर्म नहीं आसकता।

कुछ लोग चारित्र्य-धर्म को तो धर्म मानते हैं, किन्तु सूत्र-धर्म उनकी गिनती में ही नहीं है। सूत्र के तो केवल अक्षर पद लेना ही पर्याप्त समझते हैं। किंतु सूत्र-धर्म का शास्त्र में इतना महत्व बतलाया है, कि इसकी यथाविधि आराधना करने से मनुष्य 'परित-ससार' कर सकता है। अर्थात् ससार का उच्छेद कर सकता है। यही नहीं, मोक्ष में भी सूत्र-धर्म यानी समकित-धर्म कायम रहता है। शास्त्र में सूत्र धर्म यानी समकित-धर्म के ये आठ आठ आचार बतलाये हैं —

निस्सकिय,निक्कखिय,निव्वितिगिच्छ,अमूढदिट्ठीय।
उववूह, थिरीकरण, वच्छल्ल, पभावणेऽट्ठ ते ॥

टीका शङ्कन शङ्कित दश सर्व शङ्कारमक तस्या भावो नि शङ्कित, एव काङ्क्षण काक्षित युक्ति युक्त वाद हिंसाद्य-भिधायित्वाच्च शाक्योलूकादि दर्शनान्यपि सुन्दराण्येवे त्यन्यान्य दर्शन ग्रहात्मक तदभावो निष्काङ्क्षित, प्राग्य-दुभयत्र बिन्दुलोप, विचिकित्सा-फल प्रतिसन्देहो यथा-किमियत क्लेशस्य फल स्यादुत नेति ? तदन्यादेन 'विद' विज्ञा' तेच तत्वतः साधव एव तज्जुगुप्सा वा यथा किममी यतयो मलदिग्धदेहा ?, प्रासुकजलस्नाने हि क इव दोष स्यादित्यादिका निन्दा तदभावा निर्विचिकित्स निर्विजुगुप्स वा, आर्षत्वाच्च सूत्र एव पाठ, 'अमूढा' ऋद्धिमत्कुतीर्थिक दर्शनेऽप्यनवगीतमेवास्मद्दर्शनमिति माह विरहिता सा चासौ दृष्टिश्च बुद्धिरूपा अमूढ दृष्टि, स चाय चतुर्विधो-ऽप्यान्तर आचार, बाह्य स्त्वाह—

'उववूह' त्ति, उपबृंहणमुपबृंहा दर्शनादि गुणान्वितानां सुलब्ध जन्मानो यूय युक्तं च भवादृशामिदामित्यादि वचोभिस्तत्तद्गुण परिवर्द्धन मा च स्थिरीकरणं चअभ्युपगम (त) धर्मानुष्ठान प्रति विषीदता स्थैर्यापादनमुपबृंहास्थिरीकरणे, वत्सलभावो वात्सल्य साधर्मिकजनस्य भक्तपानादिनाचित प्रतिपत्तिकरण तच प्रभावना च तथा तथा स्वतीर्थोन्नति हेतुचेष्टासु प्रवर्चनादिनक नात्मन्य प्रभावने, उपसंहार माह-अष्टेते दर्शनाचारा भवन्तीतिशेषः,एभिरेवाष्टभिराचार्यमाणस्यास्योक्त फल सम्पादकतेति भावः, एतच ज्ञानाचाराद्युपलक्षक, यद्वा दर्शनस्यैव यदाचाराभिधान तदस्यैवो कल्यापेन मुक्तिमार्गे मूलत्व समर्थनार्थमिति सूत्रार्थः॥

अर्थ—शङ्का करने को शङ्कित कहते हैं। देश से या सर्व से शङ्का के अभाव को निःशङ्कित कहते हैं। इच्छा करने का नाम काङ्क्षित है। युक्तियुक्त होने से और अहिंसादि के प्रतिपादक होने से बौद्ध दर्शन तथा उलूकादि दर्शन भी अच्छे ही हैं, इस प्रकार अन्य दर्शनों में जो उपादेय बुद्धि है, उसके अभाव को निष्काङ्क्षित कहते हैं। विचिकित्सा यानी फल होगा या न होगा ? इस प्रकार सशय करना अथवा ये साधु-लोग मलयुक्त देह होकर क्यों रहते हैं, यदि अचित्त-जल से ये स्नान करलें, तो क्या दोष होगा ? इस प्रकार साधुओं की निन्दा विचिकित्सा है। उसके अभाव को निर्विचिकित्सा कहते हैं। धनवान अन्य-तीर्थी को देखकर भी, मेरा दर्शन उत्तम ही है, ऐसी मोह रहित

जिसकी वुद्धि है, वह अमूढ दृष्टि कहलाता है। ये चारों व्यवहार आन्तर व्यवहार हैं,अब बाह्य-व्यवहार कहे जाते हैं। उत्साह वृद्धि का नाम उपवृहा है। जैसे कि दर्शनादिगुणों से युक्त पुरुषों के गुणों को यह कहकर बनाना कि आपका जन्म सफल है, आप लोगों के सदृश पुरुषों के लिये यह कार्य उचित ही है,इस प्रकार उसके उत्साह को बढ़ाना उपवृहा कहलाती है। (स्थिरीकरण) अर्थात्-स्वीकार किये हुए धर्म के अनुष्ठान करने में विषाद करते हुए पुरुष को स्थिर बनाना, स्थिरी करण कहलाता है। (वात्सल्य) अपने साधर्मिकजन को भात पानी आदि उचित सहायता करना वात्सल्य है। (प्रभावना) अपने धर्म की उन्नति की चेष्टा में प्रवृति होना प्रभावना कहलाती है। ये आठ, दर्शन के आचार होते है। इन आठों का आचरण करनेवाला पुरुष, बतलाये हुए फल का सम्पादक होता है। यह (आचार) नाना चार आदि का भी उपलक्षक है। अथवा दर्शनाचार ही मुक्तिमार्ग के मूल हैं, यह समर्थन करने के लिये इन्हीं (दर्शनाचार) का कथन किया गया है।

उपरोक्त आठ आचार सूत्र-धर्म के हैं। इनमें सब से प्रथम आचार यह है,कि नि शङ्क बनो। इसका यह अर्थ है कि जो मनुष्य श्रद्धा में या किसी और धार्मिक कार्य में सन्देह रखता है, वह निश्चय को नहीं पहुच सकता।

साहित्य में संशय के लिये दो प्रकार की बातें कही गई है। एक स्थान पर कहा है —

"न संशय मनारुह्य,
नरो भद्राणि पश्यति।"

अर्थात्–जबतक मनुष्य शङ्का पर आरोहण नहीं करता, तब तक उसे अपना कल्याण मार्ग दिखाई नहीं देता।

दूसरे स्थान पर कहा है –
"संशयात्मा विनश्यति"

अर्थात्–संशय करनेवाले की ज्ञानादि आत्मा नष्ट होजाती है।

ये दो विरोधी बातें क्यों कही गईं? यदि संशय खराब है, तो शास्त्रों में कई स्थान पर यह क्यों आया है, कि गौतमजी भगवान से कहते हैं कि "जाय–संशय" अर्थात्-उन्हें सन्देह उत्पन्न हुआ। और यदि संशय अच्छा है, तो शास्त्र में संशय को समकित का दोष क्यों कहा गया है? इसका क्या कारण है?

इसका समाधान यह है कि, जैसे कि आप लोग (व्याख्यान के समय) जिस मकान के नीचे बैठे हैं, इसकी ऊंचाई, नीचाई या यह गिरनेवाला तो नहीं है, यह देख लेना हरएक का कर्त्तव्य है। किन्तु केवल "कहीं यह गिर पड़ा तो?" इस भय से व्याख्यान में सम्मिलित ही न होना उचित नहीं है। इसी दृष्टान्त से छद्मस्थावस्था तक केवली की अपेक्षा से कुछ बिना जाना रहता ही है, उसको जानने के लिये संशय करना, वह संशय लाभ दाता है, उसमें दोष नहीं। परन्तु जो पुरुष भीतर ही भीतर संशय रख कर उसमें डूबा रहता है, निर्णय नहीं करता, वह "संशयात्मा–विनश्यति" का उदाहरण बन जाता है।

आप लोग जानते हैं कि कभी-कभी रेल उलट जाती है, जहाज़ डूब जाते हैं और उनमें बैठनेवालों की क्षति होजाती है। किन्तु ऐसा सदैव नहीं होता, कभी होजाता है। अब यदि कोई गृहस्थ यह सोचकर कि रेल और जहाज़ में बैठनेवाले मरजाया करते हैं, कभी इनका उपयोग न करें, तो क्या उसकी यह शङ्का उचित है।

" नहीं "

केवल आपत्ति के भय ही से किसी काम से दूर रहना बुद्धि मत्ता नहीं है। काय करते समय, हानि-लाभ का विचार अवश्य रखना चाहिए, *किन्तु शुरूआत से ही किसी काम को शङ्का* की दृष्टि से न देखना चाहिए।

मनुष्य, निर्णयात्मक-दृष्टि से जितना अधिक तर्क करता है, उसे उतना ही गहरा-रहस्य मिलता है। किन्तु कोई मनुष्य यही शङ्का करके रहजाय, कि कौन जाने परमात्मा है या नहीं, या ये साधु हैं या नहीं, और इनके बताये उपायों से परमात्मपद मिलेगा या नहीं ? इत्यादि शङ्काएं करके जो मनुष्य धर्म और ईश्वर पर विश्वास नहीं लाता, और प्रतिक्षण अपने हृदय में शङ्का को स्थान दिये रहता है, उसकी आत्मा, ज्ञान-दृष्टि से निश्चित ही नष्ट हो जाती है।

कोई यह कहे कि हम जैन-शास्त्रों को सत्य मानें और उन पर शङ्का न करें, इसके लिये क्या प्रमाण है ? यह प्रश्न बिलकुल ठीक है, किन्तु पाच और पाच कितने होते हैं ?

" दस "

और यदि कोई एम० ए० पास आदमी कहदे, कि ५ और ५ ग्यारह होते हैं, तो क्या आप मानेंगे ?

"कभी नहीं"

किन्तु वह कहे कि मैं एम० ए० हू, अत मेरी बात प्रमाण है, तो आप उसे क्या उत्तर देंगे ? यही न कि हमारा अनुभव है, इसलिये हमें अच्छी तरह विश्वास है कि ५ और ५ दस ही होते हैं। जो तुम हमें ग्यारह बतलाकर सन्देह में डाल रहे हो, यह बात हम कदापि स्वीकार नहीं कर सकते। तुम खुद गल्ती पर हो।

जिस प्रकार ५ और ५ दस होते हैं, यह बात प्रत्येक-मनुष्य जानता है, इसी प्रकार जैन धर्म के सिद्धान्त भी सरलता-पूर्वक समझ में आसकते है। और उनकी सत्यता भी बहुत जल्दी मालूम हो जाती है। अर्थात् लगभग सब बातें अपने अनुभव की है। प्रत्येक मनुष्य यह बात समझता है कि जो धर्म हिंसा का प्रति-पादन करता है, वह धर्म धर्म ही नहीं है। अब आप यह बत-लाइये कि जैन धर्म हिंसा का प्रतिपादन करता है या अहिंसा का ?

"अहिंसा का"

आप से, यदि कोई मनुष्य धोखा देकर कुछ छीन ले, तो आप उसे धर्मी कहेंगे या अधर्मी ?

"अधर्मी"

बिना सीखे, केवल अनुभव से ही प्रत्येक-मनुष्य कह सकता है कि ऐसा करना अधर्म है। जैन-धर्म के सिद्धान्त भी ऐसे ही अनुभव-सिद्ध है। उनकी सत्यता के लिये प्रमाण देने की आव-

श्यकता नहीं है। अपनी आत्मा का अनुभव ही इसका प्रमाण है।

यदि कोई यह कह कि जिन्होंने अहिंसा को धर्म बनाया है, उनका बताया हुआ भूगोल–खगोल, आधुनिक भूगोल–खगोल से नहीं मिलता, फिर तुम उन्हें सर्वज्ञ क्यों मानते हो? तो इस का यह उत्तर है कि मैंने उन्हें भूगोल खगोल रचने के कारण, परमात्मा नहीं माना है, बल्कि 'अहिंसा' के कारण परमात्मा माना है। अब भूगोल-खगोल क्यों नहीं मिलता, इसके लिये हमार पास कोई ऐसा साधन नहीं है जिससे हम यह बतला सकें कि उन्होंने भूगोल-खगोल की रचना किस विशिष्ट विचार से की है। परन्तु अहिंसा का सिद्धान्त, जो मेरे अनुभव में सत्य और पूर्ण कल्याणकारी है,उसपर से मैं कह सकता हू,कि अहिंसा के सिद्धान्त को माननेवाले कभी झूठ नहीं बोल सकते।

अहिंसावादी, थोडा भी असत्य कहना, आत्मा का घात करना समझता है। पूर्ण अहिंसावादी, आत्मा का घात, जो हिंसा है, कैसे करेगा? अत यह प्रश्न होता है कि फिर उन्होंने जो भूगोल खगोल रचा है, वह प्रचलित भूगोल-शास्त्र के सम्मुख, सत्य क्यों नहीं प्रतीत होता? इसके लिये एक उदाहरण देते हैं -

हवा को थैली में भरकर यदि सोना चादी तोलने के साधनों से तौले, तो हवा का कोई वजन मालूम नहीं होता। किन्तु वैज्ञानिकों का कथन है कि वायु में भी वजन है और वह वजन तौल में आता है। हमें, हवा बिना वजन की मालूम होती है, इसका कारण यह है कि हमारे पास उसे तौलने के साधन नहीं हैं। इसी प्रकार हमारा भूगोल जिस सिद्धान्त पर बताया गया है, उसे सिद्ध

करने के लिये हमारे पास उपयुक्त साधन नहीं है। यदि साधन होते, तो प्रमाणित किया जा सकता था कि अमुक सिद्धान्त पर इस भूगोल की रचना की गई है।

हमारे यहा भूगोल में, चौदह राजुलोक की स्थिति, पुरुषाकार बनाई है। यदि, कोई मनुष्य, इस लोकस्थिति का प्रतिदिन एक एक घण्टा ध्यान करे, तो छ महीने के बाद, वह स्वय कहेगा, कि इसमें अपूर्व आनन्द भरा है। मुझे थोडासा अनुभव है, फिर भी मै कह सकता हू कि इसमें बडा आनन्द है। तो जो विशिष्ट-ज्ञानी हैं, उन्हें इस लोक स्थिति के ध्यान से कैसा आनन्द होता होगा।

इससे सिद्ध है कि जिन्होंने जैन सिद्धान्त और जैन-शास्त्रों की रचना की है, वे सर्वज्ञ थे। उनके कहे हुए प्रत्येक शब्द में बडा गूढ-रहस्य है। यह बात दूसरी है कि उनकी सब बातें समझने में हमारी बुद्धि अ समर्थ है।

एक-प्रश्न, जो दुनिया उठाती है, वह यह है कि यदि अहिंसा कल्याण करनेवाली है, तो जैनों की अवनति क्यों हो रही है ? बात है तो सत्य। क्योंकि अवनति वास्तव मे हो रही है। जिस भारत में अहिंसा के पालनेवाले बहुत हैं, चाहे और बातों मे भेद हो, किन्तु शैव, वैष्णव आदि सब ने "अहिंसा परमो धर्म" माना है—उस भारत की आज अवनति क्यों है ? इसका उत्तर यह है कि अहिंसाधर्म कर्तव्यमय है। इसका पूरा पालन करनेवाले थोडे बल्कि नाम मात्र को है। अहिंसा धर्म का

पालन वीरों का काम है और आज मनुष्यों में डर घुसा हुआ है। जो मनुष्य डरनेवाला है, वह अहिंसा धर्म का पालन कदापि नहीं कर सकता। लोग, केवल नाम को अहिंसावादी बन जावें किन्तु उसका पालन न करें और कूट कपट में पड़ें, तो यह अहिंसाधर्म का पालन नहीं कहा जासकता और यह निश्चित है कि जब तक मनुष्य भली भांति अहिंसा का पालन करना नहीं सीखते, तबतक उन्नति कदापि नहीं हो सकती।

यहां, कोई यह शङ्का कर सकता है कि जब बिना अहिंसा का सिद्धान्त पाले उन्नति नहीं हो सकती, तो यूरोप की उन्नति हिंसा करते हुए भी क्यों है।

किन्तु यूरोप की यह दिखाऊ भौतिक उन्नति, वास्तविक उन्नति नहीं, बल्कि भयङ्कर रोग है। भारतवर्ष में अहिंसा का जितना संस्कार आज शेष है, उसके प्रभाव से जैसी अच्छी बातें अधिकतर भारतीयों में हैं, वैसी संसार में और कहीं नहीं हैं। भारतवर्ष के केवल पति-पत्नी-धर्म को ही लीजिये। इसके मुकाबिले में अमेरिका का पति पत्नी धर्म कितना गिरा हुआ है, यह देखना चाहिये। सुना गया है कि अमेरिका में प्राय ९५ प्रतिशत विवाह-सम्बन्ध टूट जाते हैं। इसके अतिरिक्त आज भी भारतवर्ष गरीब से गरीब मनुष्य को जैसा सुख दे सकता है, उतने प्रमाण में वहां के गरीबों को नहीं मिलता। मैं घाटकोपर (बम्बई) में था, तब सुना था कि भारत के एक अमेरिका गये हुए सज्जन का पत्र आया है, उसमें उन्होंने लिखा है कि "अमेरिका

के निम्न श्रेणी के मनुष्यों की आर्थिक-स्थिति, निम्न-श्रेणी के भारतीयों की अपेक्षा बहुत बुरी है। यहा के गरीब, प्राय अखबार तक ओढ़ने बिछाने के काम में लेते हैं।"

कुछ मनुष्य तो अरबपति है और कुछ ऐसे हैं,जिन्हें ओढ़ने–बिछाने को भी नहीं मिलता,इसे सुधार या उन्नति कहना उचित नहीं है। प्रत्येक प्राणी को अपनी आत्मा के समान समझकर कूड़–कपट न करे, यह वास्तविक-उन्नति है। यदि यह कहा जाय, कि यह वैषम्य ही वास्तविक उन्नति है, अर्थात् गरीबों के जीवन–मरण का विचार न करके प्रत्येक सम्भव उपाय से धन खींचकर तिजोरी भरलेना ही उन्नति है, तो यह भी मानना पड़ेगा, कि जो मनुष्य दगा करके धन एकत्रित करता है, वह भी उन्नति कर रहा है। किन्तु इस तरह दगा-फटका करके धन छीनने को उन्नति मानना, उन्नति का अर्थ नहीं समझना है। एक अहिंसावादी, चाहे मरजाय, किन्तु अन्याय–पूर्वक किसी का धन प्राण हरण नहीं करता और एक दूसरा मनुष्य, किसी को मारकर अपना मतलब सिद्ध करे, इन दोनों में आप उत्तम किसे समझते हैं ?

"अहिंसावादी को"

अहिंसाधर्म का रहस्य ठीक ठीक न समझने अथवा अहिंसावादी कहलाकर भी बुरे कार्य करने से अवनति न हो, तो क्या उन्नति हो ? आज, मन्दिरों, तीर्थो और धर्म-स्थानों में धर्म के नाम पर कहीं-कहीं जो अत्याचार हो रहे है, क्या इन सब कुकर्मों का फल मिले बिना रहेगा ? भारतवर्ष, आज अपने कर्मों से ही अवनति के गड्ढे में गिरता जा रहा है। अब तक, मनुष्यों में जो सत्य,

शील आदि गुणों का कुछ अश शेष है,वह सब पूर्वजों के प्रताप से ही है। आज तो केवल पूर्वजों की एकत्रित की हुई धर्म-सम्पत्ति को चुका रहे हैं। अथात् व्यय कर रहे हैं, कुछ नया कमाकर उसमें नहीं जोडते हैं। आज भी जितने मनुष्य अहिंसापालन का तप, जितने प्रमाण में करते हैं, उतने प्रमाण में वे ससार को कल्याण-मार्ग पर लगाते और विघ्नों को दूर हटाते हैं।

कोई यह कहे, कि जैन-धर्म मे दो प्रकार की अहिंसा की व्याख्या क्यों मिलती है ? जैसे दूसरा पक्ष कहता है, कि " न मारना तो अहिंसा है, किन्तु किसी मरते जीव को बचाना पाप है, यह कौनसा न्याय है ?

इसका उत्तर यह है, कि जिनको अहिंसा का अर्थ नहीं मालूम है, वे चाहे जो कहें, किन्तु यह बात दुनिया जानती है, कि अहिसा शब्द हिंसा का विरोधी है। जिसमें हिंसा का विरोध हो, वह अहिसा है और जिसमें अहिंसा का विरोध हो, वह हिंसा है। मानलीजिए, कि एक मनुष्य दूसर निरपराधी-मनुष्य को तलवार से मार रहा है। अब एक तीसर मनुष्य ने उपदेशादि से उसे रोका, तो यह हिंसा का विरोध हुआ न ?

" हां "

यह बात पहले ही कही जा चुकी है, कि हिंसा का विरोध अहिसा है। अत जो मनुष्य हिंसा रोकता है, अथात् हिंसा का विरोध करता है, वह निश्चित ही अहिंसक है, अब, ऐसे मनुष्य को जो हिंसक कहते हैं उन्हें क्या कहना चाहिए ?

" वे गलत कहते हैं "

कोई बुद्धिमान मनुष्य यह बात नहीं कह सकता, कि रक्षा करनेवाला हिंसक या पापी है।

रावण, सीता का शील हरण करने को तैयार था, और विभीषण ने उसे रोका, तो कुशीला कौन है ?

" रावण "

और विभीषण ?

" शीलवान "

अब यदि कोई मनुष्य यह कहने लगे कि सीता का शील बचाने के कारण विभीषण कुशीला होगया, तो क्या उसका यह कहना न्याय है ?

" नहीं "

जब ऐसा है, तो जो मनुष्य " मत मार " कहता है, उसे हिंसक बताना क्या उचित है ?

" अनुचित "

तात्पर्य यह, कि जो मनुष्य अहिंसा का यह अर्थ करते हैं, कि केवल न मारना अहिंसा है, बचाना हिंसा है, वे गलती करते हैं।

अहिंसाधर्म, संसार का सर्वोत्तम-धर्म है। यह बिल्कुल स्वाभाविक और आत्मानुभव से सिद्ध धर्म है, इसमें सन्देह करने को गुन्जायश ही नहीं है।

साराश यह है, कि प्रत्येक बात को देखलेनी चाहिए कि यह कहा तक सत्य है । सन्देहादि, निर्णयात्मक--

बुद्धि से दूर कर लेने चाहिएँ। किन्तु ऐसे सन्देह न करने चाहिएँ, कि, न मालूम धर्म नाम की कोइ चीज है या नहीं, अथवा अच्छे कार्यों का फल मिलेगा या नहीं, या ईश्वर है या नहीं, किंवा साधु के पास जाने से लाभ होगा कि नहीं? आदि। जो मनुष्य इस प्रकार के सन्देह करता है, उसकी आत्मा ज्ञान-दृष्टि से नष्ट हो जाती है। और जो निर्णयात्मक-बुद्धिसे अपनी शङ्काओं का निवारण करता है, वह भद्र कल्याण-मार्ग पाता है।

इच्छा करने का नाम कांक्षा है। अन्य धर्म का दर्शन या धार्मिक क्रिया देखकर उसे ग्रहण करने की इच्छा का नाम कांक्षा है।

'अन्य धर्मावलम्बी भी अहिंसा को धर्म कहते हैं और कई एक बातें उनकी युक्तियुक्त भी हैं, अतएव मैं अपने धर्म को छोड़कर उनका धर्म धारण करलूँ तो क्या हानि है?' इसप्रकार की अन्य दर्शनो में जो उपादेय बुद्धि होती है, उसको कांक्षा कहते हैं, ऐसी उपादेय-बुद्धि न रखने का नाम निष्कांक्षित-बुद्धि है।

समदृष्टि को निष्कांक्षी होना आवश्यक है। क्योंकि यद्यपि ऊपर से बौद्धादि दर्शनो की बहुत सी बातें जैन-दर्शन के समान दिखाई देती हैं, किन्तु पूर्वा पर विरुद्ध होने से उनकी वे बातें यथार्थ-सत्य नहीं हैं। समदृष्टि को सर्वज्ञ परिणीत धर्म के सिवाय असर्वज्ञों के कथन किये हुए दर्शनों की कांक्षा करना

कैसे उचित हो सकता है ? अतः निष्कांक्षा, समकित का आचार मानी गई है।

विचिकित्सा, यानी फल के प्रति सन्देह करना। कोई मनुष्य यह सोचे कि मैं धर्म पालन में जो इतना परिश्रम कर रहा हूं, इसका फल मिलेगा या न मिलेगा, इसप्रकार का सन्देह करना अथवा ये साधु लोग अपनी देह मैली क्यों रखते हैं ? यदि अचित-जल से स्नान करलें, तो क्या दोष होगा ? इस प्रकार के विचार करके साधुलोगों की निन्दा करना, यह विचिकित्सा है। विचि-कित्सा के अभाव को निर्विचिकित्सा कहते हैं।

अन्य धर्मावलम्बियों को ऋद्धि सम्पन्न देखकर भी जिसके मन में व्यामोह पैदा न हो, कि यह ऋद्धि सम्पन्न है, इससे इसका धर्म श्रेष्ठ है और मैं अल्पऋद्धि हूं, इसलिये मेरा धर्म कनिष्ट है, ऐसा व्यमोह त्यागना अमूढ़–दृष्टि नामक समकित का आचार है।

किसी की बाहरी सिद्धि देखकर जो मनुष्य हृदय में यह विचार लाता है, कि ये गुरु तो चमत्कार नहीं दिखलाते और उस धर्म के गुरु चमत्कार दिखलाते हैं, वह मूढ़–दृष्टि है। ऐसी मूढ़–दृष्टि न रखना अमूढ़–दृष्टि आचार है, यह भी इसका अर्थ समझना चाहिए।

उपरोक्त चार आचार, आन्तरिक है। यानी हृदय से होने-वाले आचार हैं। अब बाह्याचार अर्थात् बाहरी आचारों का वर्णन किया जाता है।

किसी के धार्मिक-उत्साह को बढ़ाने का नाम उपबृंहा है। जैसे कि दर्शनादि उत्तम गुणों से युक्त पुरुष के गुणों को यह कह कर बढ़ाना, कि आपका जन्म सफल है, आप लोगों के सदृश पुरुषों के लिये ऐसे कार्य उचित ही हैं। इस प्रकार उनके उत्साह का वृद्धि के लिये उन्हें सराहना उपबृंहा करना है।

स्वीकार किये हुए सत्य धर्म के पालन करने में विषाद करते हुए, यानी डावाँडोल होते हुए पुरुष को स्थिर बनाना, इस का नाम स्थिरीकरण है। स्थिर करना दो प्रकार से होता है। एक तो धर्म मे डिगनेवाले को उपदेश देकर स्थिर करना और दूसरा असहाय को सहायता देकर स्थिर करना।

कोई यह कह सकता है, कि असहाय को सहायता देने में तो कई आरम्भ होना भी सम्भव है, परन्तु आरम्भ को समदृष्टि आरम्भ मानता है, तथापि सहायता के द्वारा जो पुरुष धर्म में स्थिर हुआ, वह तो महा समकित का आचार ही है। उसमें कोई पाप नहीं, बल्कि धर्म है।

किसी को स्थिर करना समकित का आचार है और ऐसा करने से धर्म की वृद्धि होती है।

वात्सल्य में बड़ा गम्भीर विचार है। जैसे एक श्रावक के लड़की हुई और उसने यह सोचा, कि इसका विवाह तो करना है, किन्तु इसे यदि किसी सद्धर्मी से विवाहा जाय, तो अच्छा हो। क्योंकि जो धर्म मिलना कठिन है और जिसपर श्रद्धा होने से मुझे अलौकिक-आनन्द मिलता है,

वैसा ही आनन्द इसे मिले और धर्म की ओर इसकी रुचि बढ़ती रहे। यह वात्सल्य गुण है। कोई चीज बाजार से खरीदनी है, किन्तु वह सहधर्मी की ही दुकान से ली। अथवा एक नौकर रखना है, तो सहधर्मी को ही रखा, और यह विचारा कि यह सहधर्मी है, अत नौकर का नौकर हो जायगा और धर्म सहायता भी मिलेगी। यह वात्सल्यता है। इसीलिये विवाहादि सम्बन्ध में भी सहधर्मी-वात्सल्य का विचार हो सकता है। जहा भिन्न विचारवाले भिन्न धर्मावलम्बी पति पत्नी या स्वामी सेवक होते है, वहाँ बहुधा विचारों की असमता होती है। और उसका परिणाम किसी किसी समय बड़ा भयङ्कर होता है। अतएव समान धर्मवाले से सम्बन्ध रखने में समकितादि गुणों की वृद्धि होना सम्भव है। साराश यह, कि अपने सहधर्मी मनुष्य को देखकर प्रेम हो और उसकी भात पानी आदि उचित सहायता की जावे, इसका नाम वात्सल्य है। यह भी समकित का आचार है।

वात्सल्यगुण बहुत बड़ा है। इसका जितना विचार किया जाय, उतना ही थोड़ा है।

अपने धर्म की उन्नति की चेष्टा में प्रवृत्ति होना प्रभावना कहलाती है। अथवा यों कहना चाहिए, कि जिस कार्य के करने से जैन धर्म देदीप्यमान हो, उसे प्रभावना कहते हैं।

सुना जाता है, कि पहले करोड़ों जैनी थे। ये लोग तलवार के बलपर या डरा धमकाकर जैनी नहीं बनाए गये थे, बल्कि उस समय के जैनियों के वात्सल्य और प्रभावना गुण से प्रभावित होकर अन्य धर्मा-

वलम्बी लोग भी जैन धर्मानुयायी होकर, जैन धर्म का पालन करने लगे थे। आज भी यदि जैन कहेजानेवाले भाई अपने चरित्र को ऊँचा रखें और वात्सल्य तथा प्रभावना गुण को बढ़ावें, तो ससार पर जैन धर्म का प्रभाव अवश्यमेव पड़े। यदि जैनी भाई अपने आचार विचार को शुद्ध रखें और अन्य लोगों से सहानुभूति पूर्ण व्यवहार करें, तो लोग निश्चित ही जैन धर्म की ओर आकर्षित होंगे, जिस से तीर्थङ्करों का मार्ग दीपेगा। इसी वास्ते सूत्र ठाणाङ्ग के चौथे ठाणे में कहा है कि प्रवचन प्रभावना के वास्ते पात्र अपात्र दोनों को दान देनेवाला दाता तीसरे भङ्ग का दातार है। इस से स्पष्ट है, कि अपात्र को दान देने से भी तीर्थङ्कर के मार्ग की प्रभावना होती है। अर्थात् दान पुण्य के प्रभाव से अपात्र यानी सूत्र-चारित्र्य धर्म से विहीन, जो सामान्य प्रकृति का मनुष्य है, उसे भी दान यानी सहायता देकर जैन धर्म का अनुयायी बनाना तीर्थङ्कर के मार्ग का दिपाना है और तीर्थङ्कर के मार्ग को दिपाने का शास्त्रों में उत्कृष्ट से उत्कृष्ट फल यह बताया है, कि तीर्थङ्कर पद की प्राप्ति होती है। और यह भी देखा जाता है, कि किसी अन्धे, लूले लँगड़े असहाय को पात्र का विचार न करके दान देने से ससार पर जैन धर्म का प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव पड़ना भी जैन धर्म की प्रभावना है।

जो मनुष्य, दान देने को पाप कहते है, समझना चाहिए कि उन्होंने प्रवचन प्रभावना का अर्थ ही नहीं समझा है।

ये आठ आचार सूत्र धर्म के हैं। इन आठों का आचरण करनेवाला पुरुष, बतलाये हुए फल का सम्पादक होता है। यही

आठ आचार चारित्र्य-धर्म के भी उपलक्षक हैं। इन्हीं के पालन करने से चारित्र्य धर्म की उत्पत्ति होती है। अथवा यों कहना चाहिए, कि यही आठ आचार मुक्ति मार्ग के मूल हैं।

चारित्र्य धर्म के दो भेद हैं। देश चारित्र्य धर्म और सर्व चारित्र्य धर्म। श्रावक के लिये एकदेशीय चारित्र्य धर्म तथा साधु के लिये सम्पूर्ण चारित्र्य धर्म के पालन करने की व्यवस्था शास्त्रों में दीगई है।

चारित्र्य धर्म की व्याख्या के विषय में जैन साहित्य विस्तार रूपसे उपलब्ध है, ऐसे ही चारित्र्य धर्म की प्रवृत्ति भी प्रचलित है, इस कारण ग्रन्थ बढ़ जाने के भय से इस की विशेष व्याख्या नहीं दीगई है। सम्पादक

१०—" अत्थिकाय-धम्मे ।"
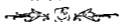
शास्त्र में, 'अत्थिकाय' अर्थात् अस्तिकायधर्म की टीका यों की है—

अस्तय प्रदेशास्तेषा काया-राशिरस्तिकाय स एव धर्मोगति पर्याये जीव पुद्गलयोर्द्धारणादित्यास्तिकाय-धर्मः।

अथ—अस्ति अर्थात प्रदेश की काय अर्थात् राशि को अस्तिकाय कहते हैं। तद्रूप जो धर्म है, वह गति और पर्यायों में पुद्गलों का धारणकर्ता होने के कारण अस्तिकाय-धर्म कहलाता है।

यहां टीकाकार ने पन्चास्तिकाय में से केवल धर्मास्तिकाय को ही अस्तिकाय-धम म गिनाया है। इसका तात्पर्य यह है, कि सूत्र-भगवतीजी में धमास्तिकाय के अभिवचन अर्थात् अनेक नामों में धर्म और धमास्तिकाय का साधर्मी रूप से एक माना है। वहां या पाठ है—

धम्मत्थिकायस्स ण भंते ! केवइया अभिवयणा पएणत्ता ? गोयमा ! अणेगा अभिवयणा पएणत्ता। त जहा—धम्मेत्तिवा, धम्मत्थिकाएइवा, पाणाइवाय वेरमणेति वा, मुसावाय वेरमणेतिवा, एवं० जाव परिग्गह वेरमण कोह विवेगेति वा०, जाव मिच्छादसणसल्लविवेगेति वा०, इरियासमिए ति वा०, मासासमिए ति वा, एसणा समिए ति वा, आदाणभडमत्त निक्खेवणासमिए ति वा, उचारपासवण

पलजल्लसिघाण पारिठावणियास।मिई ति वा, मणगुत्ती ति वा,वयगुत्ती ति वा, कायगुत्ती ति वा, जे यावरणे तहप्पगारा, सव्वे ते धम्मत्थिकायस्स अभिवयणा ॥

इस ऊपर के पाठ से यह सिद्ध होता है, कि धर्म और धर्मास्तिकाय, नाम के साधर्म्य से एक ही माना गया है। इसी से टीकाकार ने अस्तिकाय-धर्म में धर्म शब्द के साथ धर्मास्तिकाय को ही उदाहरण स्वरूप बतलाया है। धर्मास्तिकाय को धर्म का साधर्मी बतलाने का एक यह भी कारण समझा जाता है, कि धर्मास्तिकाय, गति सहायक द्रव्य है। अतएव कर्म के नाश करने में धर्मास्तिकाय की भी सहायता पहुचती है। शायद इसी अभिप्राय से शास्त्रकार ने धर्म और धर्मास्तिकाय को एक नाम से बतलाये हों। तत्व केवली गम्य।

दस-थीवर

धर्म की उत्पत्ति अपने आप नहीं होती, बल्कि किसी मनुष्य के कार्यों का ऐसा प्रभाव पड़ता है, कि धर्म का प्रचार होजाता है। जैसे-एक मकान बनने से पहले चूना, पत्थर आदि-आदि सामग्री दूसरी-दूसरी जगह पड़ी थी, किन्तु किसी के उद्योग से यह सब सामग्री एकत्रित हुई और मकान बना। यद्यपि यों तो प्रत्येक पदार्थ में कुछ न कुछ धर्म अवश्य है, किन्तु उन धर्मों को एकत्रित करके एक रूप देने का काम जब तक न हो, तब तक उन सब के पृथक्-पृथक्-धर्म विशेष लाभ-प्रद नहीं होते। जैसे पत्थर में जुड़ने का और चूने में जोड़ने का धर्म मौजूद है, किन्तु जब तक कोई कारीगर इन दोनों के धर्मों का एकीकरण नहीं कर देता, तब तक मकान तयार नहीं होता।

ठीक यही बात धर्म के लिए भी समझनी चाहिए। बिखरा हुआ धर्म किसी उपयोग में नहीं आता और उसे एकत्रित कर देने से प्राणिमात्र का कल्याण करनेवाला महाधर्म तयार हो जाता है। इस बिखरे हुए धर्म को महापुरुष जन्म लेकर एकत्रित कर देते हैं।

चूना और पत्थर को जोड़नेवाला मनुष्य जैसे कारीगर कहलाता है, वैसे ही धर्मों को जोड़नेवाले मनुष्य को शास्त्रकार "थीवर" कहते हैं।

मानव-समाज को दुर्व्यवस्थित दशा से निकालकर सुव्यवस्थित करे, वह थीवर कहा जाता है। यह नहीं, कि कोई मनुष्य किसी बुरे काम को सिद्ध करने के लिये संगठन करे और उसे

थीवर कहा जाय। थीवर वही है, जो सब की व्यवस्था का समुचित-रूपेण ध्यान रखे।

सुतार, लकड़ी को व्यवस्थित करने के लिये किसी जगह से छीलता है और किसी-जगह से काटता है। इसी प्रकार थीवर को भी सुव्यवस्था करने के लिये कई बातें काटनी-छाँटनी पड़ती हैं। यदि वह ऐसा न करे, तो व्यवस्था न हो और जब व्यवस्था न हो, तो वह थीवर नहीं कहा जा सकता। न्याय-पूर्वक की हुई काट-छाँट के लिये, कभी-कभी थीवर पर कुछ स्वार्थी-मनुष्य असन्तुष्ट भी हो जाते हैं, किन्तु सच्चा थीवर उन सब के असन्तोष की परवाह न करते हुए अपना कर्तव्य बराबर पालता रहता है।

थीवर को, आजकल की भाषा में प्रमुख, नेता या लीडर कहते हैं। प्राचीन भाषा में पञ्च या मुखिया कहते थे और जैन-शास्त्रों में इन्हें थीवर कहा है।

थीवर उसे ही कहते हैं, जिसके वचनों का प्रभाव सब पर पड़े। जन-साधारण, थीवर के वाक्य का उल्लंघन, ईश्वर-वाणी का उल्लंघन समझें। यह गुण उसी व्यक्ति में पैदा हो सकता है, जो निःस्वार्थ-भाव से व्यवस्था करता हो। चाहें राजा की बात को जनता न माने, किन्तु निःस्वार्थभाव से सेवा करनेवाले की बात अवश्य मानती है।

जब जनता के अच्छे भाग्य होते हैं, तब उसे अच्छा थीवर मिलता है। आजकल तो कई एक लोग, केवल अपनी कीर्ति के

लिये लीडर बन जाते हैं और सुना है, कि वृद्ध आदमी तो स्वार्थ भी साधने लगते हैं। ऐसी स्थिति में मानव-समाज की उन्नति हो तो कैसे ?

जैन शास्त्रों में दस प्रकार के थविर कहे गये हैं। उनके नाम ये हैं –

गामथेरा, नगरथेरा, रट्ठथेरा, पसत्थारथेरा, कुलथेरा, गणथेरा, सघथेरा, जातिथेरा, सुयथेरा, परितायथेरा।

इन दसों प्रकार के थविरों का वर्णन, आगे क्रमवार किया जाता है।

१-"गाम-थेरा"।

गामथेरा यानी ग्राम-थीवर, ग्राम के उस मुखिया को कहते हैं,जो ग्राम की दुर्व्यवस्था मिटाकर सुव्यवस्था स्थापित करे।

दुर्व्यवस्था और सुव्यवस्था किसे कहते है, यह बात प्रत्येक मनुष्य नहीं समझ सकता। इस बात को वही मनुष्य समझ सकता है, जिसका अपना अनुभव इस विषय में अच्छा हो और जिसे दस-धर्म की श्रृङ्खला की प्रत्येक कड़ी का ध्यान हो। एकाङ्गी दृष्टि से विचार करनेवाला मनुष्य दुर्व्यवस्था और सुव्यवस्था का अर्थ क्या समझे।

ग्राम में दुर्व्यवस्था होने पर ग्राम सदैव पतित-अवस्था की ओर जाता है। ग्राम में चोरी होती हो,व्यभिचार होता हो,लोग भूखों मरते हों,और कोई उनकी सुव्यवस्था न करे, तो उस ग्राम का पतन हो जायगा, यह ध्रुवसत्य है। क्योंकि एक तो अव्यवस्थित ग्राम में यों ही अनाचार फैला रहता है, तिस पर जब लोग भूखों मरेंगे, तो और अधिक अनाचार करेंगे। इसलिये प्रत्येक-ग्राम में एक-एक थीवर यानी सुव्यवस्था करनेवाले की आवश्यकता रहती है।

आज, ग्रामों में थीवरों की बड़ी कमी है। ग्रामथीवर का ग्राम की व्यवस्था में कौन सा स्थान है, यह बात बहुत विस्तृत है। किन्तु एक उदाहरण दे देने से ही इसका सार समझ में आजायगा।

किसी ग्राम मे मघा नामक एक ग्राम-थीवर था। इस

अकेले मनुष्य ने सारे ग्राम की व्यवस्था इस ढङ्ग से की, कि उस ग्राम में एक भी शराबी, चोर, दुराचारी या कर्ज खानेवाला मनुष्य न रहा। यहा तक, कि घरों में ताले लगाने तक की भी आवश्यकता न रह गई। समभाव रखकर व्यवस्था करने से मघा को अपने प्रयत्न में सफलता मिली। और ग्रामवासी इनसे अप्रसन्न भी न हुए। मघा, मुहल्ला झाडने तक का काम अपने हाथ से करता था। उसको झाडते देखकर, स्त्रियें और कचरा डाल देतीं, कि वह आकर झाड़ेगा ही। परन्तु वह बिना किसी प्रकार की अप्रसन्नता प्रकट किये,उस कचरे को झाडकर फेंक देता था।

गाव में जितने दुराचारी और मद्य पीनेवाले थे, उन सब लोगों से मघा विनय करता और उन्हें इन दुर्व्यसनों से रोकता था।

किन्तु मघा, दो की आखों में खटकने लगा। एक तो कलाल, दूसरे राज्याधिकारी। मघा की सुव्यवस्था के कारण वहा न तो कोइ शराबी था और न कोई मुकद्दमेबाज। इसी कारण, कलाल और अधिकारी दोनों को हाथ पर हाथ रखे बैठे रहना पड़ता था। अन्त में अधिकारियों ने मघा पर झूठा अपराध लगाकर मगध-नरेश से उसकी शिकायत की। राजा ने, मघा और उसके शिष्यों को बुलाया और उसके ३३ शिष्यों को हाथी के पैर के नीचे कुचलवाकर मार डालने की आज्ञा दी। किन्तु ये वीवर ऐसे न थे, जो ऐसी-वैसी बातों से डर जाते। इनकी निर्भयता के कारण हाथियों को भी भागजाना पडा।

आज, ग्रामों में ऐसा कोई वीवर नहीं है, प्रत्येक मनुष्य

अपनी-अपनी तरफ स्वतन्त्र है। यही कारण है कि आज ग्रामों की व्यवस्था अत्यन्त खराब हो रही है। मुकदमेबाजियों की इतनी अत्यधिक-वृद्धि का एकमात्र कारण गावों में धीवर का अभाव है।

जिस ग्राम का धीवर बुद्धिमान होता है, वहा की प्रजा को दुष्काल पड़ने पर भी किसी आपत्ति का सामना नहीं करना पड़ता। क्योंकि धीवर अपनी दीर्घ दृष्टि के कारण भविष्य का विचार करके ऐसा समट कर रखता है,कि अकाल के समय ग्रामवासियों को कष्ट नहीं होने पाता।

धीवर के अभाव में आज,ग्रामीणों का जीवन धन "गौवंश" उनके अज्ञान तथा ग्राम की दुर्व्यस्था के कारण नष्ट होता जा रहा है। जरासी पानी की न्यूनता होते ही, घास के अभाव से तङ्ग आकर, ग्रामीणलोग अपनी गौओं को यों ही आवारा छोड देते है। ये गौएँ किसी प्रकार कसाइयों के हाथ पड़ जाती हैं और इनका वध हो जाता है। जब ग्रामों में धीवर होते हैं, तो वे भविष्य का ध्यान रखकर गायों के लिये खाद्य पदार्थ एकत्रित कर रखते हैं,और इस तरह गायों की रक्षा करके उन्हें कसाइयों के द्वारा छुरी के घाट नहीं उतरने देते।

आज, यदि ग्रामों में ऐसे धीवर हों, और ग्रामीण उनका साथ दें, तो भारतवर्ष का पतन शीघ्र ही रुक जाय। ससार में, मनुष्यों के लिये, साधारणत अन्न और कपडे की विशेष आवश्यकता रहती है। अन्य वस्तुओं के बिना तो काम चल सकता है, किन्तु इनके बिना नहीं चल सकता। भारतवर्ष के ग्राम ऐसे हैं कि अपनी ही निपज से उनकी दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव

है। ग्रामों में पैदा किया हुआ अन्न, ग्रामों की सब आवश्यकताएँ पूरी कर सक्ता है। शेष रही वस्त्रों की बात।

पहले समय में प्रत्येक–ग्राम में कपड़ा तैयार करनेवाले मनुष्य रहते थे। प्राय कोई ग्राम ऐसा खाली न था, जहां कपड़ा तयार न होता रहा हो। जब प्रत्येक ग्राम अपने लिये वस्त्र तैयार कर लेते थे और अन्न भी पैदा कर लेते थे, तो उन को दूसरों का मुँह देखने की आवश्यक्ता ही नहीं रहती थी। ऐसी स्थिति में उन्हें किसी और से दीनता पूर्वक किसी पदार्थ की भिक्षा क्यों मागनी पड़े? किन्तु इन बातों को बिना ग्राम-चौधर के कौन समझावे?

चोरी आदि कुकृत्य मनुष्य प्राय तभी करता है, जब उसे अन्न वस्त्र की कमी पड़ती है। अन्न-वस्त्र की कमी न रहने की दशा में प्राय बुरे कर्म कम होते हैं।

भारतवर्ष में जब ऐसी सुव्यवस्था थी, तब चोरी बहुत कम होती थी। दूर की बात छोड़िये, अभी थोड़े ही दिन की अर्थात् कोई दोहजार वर्ष पूर्व की बात है, सम्राट् चन्द्रगुप्त के दरबार में ग्रीस–राजदूत मेगास्थनीज रहता था। उसने भारतवर्ष के अपने कई वर्षों के अनुभव लिखे हैं। उसने लिखा है कि भारतवर्ष में ऐसी सुव्यवस्था है कि लोग अपने मकानों में ताला भी नहीं लगाते। कोई झूठ नहीं बोलता और कोई बेईमानी नहीं करता।

भारतवर्ष की जिस ग्राम-व्यवस्था का वर्णन ऊपर किया गया है, यह व्यवस्था भारतवर्ष ने भोगी है और जिस दिन फिर यह व्यवस्था जारी हो जायगी, उसी दिन भारत में पुन आनन्द मङ्गल बरतने लगेगा, ऐसा भारत के शुभचिन्तकों का मानना है।

"नगर—थेरा"

'नगर थेरा' या 'नगर-थीवर' उसे कहते हैं, जो नगर की सुव्यवस्था करे।

ग्राम-थीवर और नगर-थीवर में यह अन्तर है कि ग्राम थीवर, ग्राम अर्थात् छोटे जन-समूह का व्यवस्थापक और नगर-थीवर नगर अर्थात् बड़े जन समूह का व्यवस्थापक होता है।

छोटा आदमी, छोटी वस्तु को अवेर सकता है, किन्तु बड़ी वस्तु को नहीं अवेर सकता। बड़े आदमियों की व्यवस्था में ही नागरिक रह सकते हैं, छोटे आदमी की शक्ति नहीं, कि वह नागरिकों को अपने नियत्रण म रख सके। एक कवि ने कहा है —

> कैसे छोटे नरन तें, सरत बडन के काम।
> मढ्यो दमामा जात क्यों, लै चूहे को चाम।

अर्थात्—छोटे मनुष्यों से बडा काम होना कठिन है। जिनकी बुद्धि, वैभव, प्रभाव कम है, उनसे बडा काम नहीं हो सकता। जैसे चूहे की खाल से नगारा नहीं मढा जा सकता। इसी प्रकार ग्राम का थीवर नगर का काम नहीं कर सकता।

ग्राम और नगर का ठीक वही सम्बन्ध है, जो समुद्र म नाव और जहाज का होता है। जहाज, गहरे-पानी में रहता है, थोड़े-पानी में नहीं आसकता। अत नावें किनारे पर का माल ढोकर जहाज में और जहाज का माल ढोकर किनारे पहुचाती है। इसी प्रकार नगर जहाज और ग्राम नाव के समान है। जिस

प्रकार माल नाव से जहाज में जाता है, उसी प्रकार ग्राम से वस्तुएँ नगर में आती हैं। इसी लिये ग्राम और नगर का सम्बन्ध है और दोनों के थीवरों का भी सम्बन्ध है।

नगर के थीवर में नगर की समुचित व्यवस्था करने का गुण होता है। आजकल यह-काम भाड़े के आदमी करते हैं। परन्तु पहले के नगर-थीवर ऑनरेरी होते थे, उन्हें कोई तनख्वाह न मिलती थी। किन्तु वे लोग ऐसी व्यवस्था करते थे, कि नगर में किसी प्रकार का कुप्रबन्ध नहीं रहने पाता था। वे ऑनरेरी होते थे, अत लोभ-तृष्णा आदि में भी न पड़ते थे।

नगर थीवर, राजा और प्रजा के बीच का प्रधान-पुरुष होता है। राजा से प्रजा को या प्रजा से राज्य को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे, इस प्रकार की व्यवस्था करनेवाला मनुष्य नगर-थीवर कहलाता है। नगर-थीवर का जनता पर कैसा प्रभाव होता है, यह बतलाने के लिये एक उदाहरण देते हैं।

सुना जाता है कि उदयपुर में नगरसेठ प्रेमचन्दजी को १९०८ में महाराणा साहेब स्वरूपसिंहजी ५,०००) रु० वार्षिक आमद की जागीर देने लगे, तब उन्होंने अरज किया कि जागीर लेने पर जो राज्य से आज्ञा होगी उसकी तामील मुझे अवश्य करनी पड़ेगी इस पर प्रजा के दुःख दर्द और योग्यायोग्य का विचार नहीं रहेगा इसलिये मैं जागीर नहीं लेना चाहता। इस पर महाराणा साहब उन्हें सच्चे प्रजाभक्त समझने लगे।

इस के बाद सं० १९२० में महाराणा साहेब शम्भूसिंहजी

गद्दी पर विराजे और राज्य का काम एजटी से होता था, उस समय प्रजा को जो दु ख दर्द था उसके लिये सेठ चम्पालालजी से कहा तो उन्होंने महाराणा साहेब से अर्ज किया कि राज्य कर्मचारियों द्वारा प्रजा को अमुक २ बातों का दु ख हो रहा है, तो महाराणा साहेब ने फरमाया कि एजन्ट साहब से कहो ।

इस पर सेठजी पचों को लेकर ऐजट साहब की कोठी पर गये, तो वहा के कर्मचारियों ने साहब से कहा कि सगठन कर के रैयत आप पर चढ आई है ।

तब एजट साहब ने वहा तोपखाने का प्रबन्ध किया, इस पर शहर मे हडताल हो गई और सब लोग सेठजी के साथ सहेलियों की बाडी में चले गये। उन दिनों पायगों में एक बैल मरगया और उसको उठाने के लिये बोले व चमारों की जरुरत पडी तब सेठजी के कहने पर ही बोलों ने उस बैल को उठाया । फिर सेठजी मोटेगाव (गोगून्दा) चले गये, तो सरदारों को बुलाने के लिये साहिब ने भेजे, तब वापिसआये और प्रजा के दु ख दर्द को सुन, उसे मिटाने का प्रबन्ध किया । यही कारण था कि सेठ चम्पालालजी और प्रेमचन्दजी का लोगों ने साथ दिया क्योंकि वे प्रजा के दुख दर्द को सुन उसे मिटाने का सच्चे दिल से प्रयत्न करते थे।

नगर-धीवर वही मनुष्य हो सकता है, जो प्रजा का सुख दु ख जानकर उसे दूर करने का प्रयत्न करता है । जिस नगर में व्यवस्था करनेवाला धीवर होता है, उस नगर में होनेवाली चोरी, जारी और अन्याय अपने आप रुकजाता है । राजा, इन को

हुकूमत से रोकने का प्रयत्न करता है, किन्तु धीवर इन सब को अपने प्रेम के प्रभाव से रोक देता है। धीवर इस तरह का वर्ताव करता है, कि सब का दास भी रहता है और सब का मालिक भी।

केवल सत्ता के बलपर यदि राज्य चल सकता हो, तो ग्राम-धीवर और नगर-धीवर के होने की क्या आवश्यक्ता पड़ती? परन्तु राजा के होते हुए भी प्रजा का सुख-दुःख सुननेवाला धीवर ही होता है। सच्चा-धीवर ही नगर में शान्ति रखने में समर्थ हो सकता है।

आज, इसकी जगह पर यह कहा जाता है, कि पराये काम मे नहीं पडना चाहिए। जो करेगा, सो भुगतेगा। यह कह-कहकर लोगों में ऐसे भाव भर दिये हैं कि वे अपने ही स्वार्थ मे मग्न रहते हैं। उनकी दृष्टि में दूसरे के दुःख-सुख पर विचार करते ही पाप हो जाता है। किन्तु क्या व्यवस्था करनेवाले पापी हैं? क्या पापियों से भी कभी रक्षा हो सकती है?

" कदापि नहीं "

किन्तु कई एक जैन-नामधारियों ने इस के विरुद्ध परूपणा करना प्रारम्भ कर दिया है। और किसी जीव को कष्ट से बचाने में एकान्त पाप बतलाकर दुनिया को भ्रमजाल में डालते हैं। उनका यह कथन शास्त्र विरुद्ध तो है ही, साथ ही अस्वाभाविक भी है। मानव-हृदय ही इस प्रकार का है, कि किसी को कष्ट में देखकर वह द्रवित हो उठता है। यह एक प्राकृतिक गुण है। आज, " किसी को बचाना एकान्त पाप है ,, यह उल्टी शिक्षा देकर प्रकृति के इस गुण को नष्ट किया जा रहा है।

जैसे एक अन्धा गड्ढे में गिर रहा है और दूसरा नेत्रवान पुरुष पास ही खड़ा देखता है। किन्तु "अन्धा गिरता है, इस में अपना क्या" यह कहकर उसे नहीं बचाता, तो अन्धा कौन है?

"देखता रहनेवाला"

मित्रो! तुम भी मनुष्य हो, तुम में इतनी निर्दयता कहा से घुस गई, कि तुम्हारे देखते हुए वह अन्धा गिरे और तुम न बचाओ। उसकी तो आँखें फूट ही गई हैं, किन्तु जो देखते हुए भी उसे नहीं बचाता, उसकी आँखें, होते हुए भी न होने के बराबर हैं। "अपना क्या अटका" ऐसा कहनेवाले लोगों ने अपने हृदय की सब दया नष्ट करली है।

जो मनुष्य, जिस गाव में रहता है, वह उस गाव के सुख दुख की चिन्ता न करे, तो वह उस गाँव में रहने का अधिकारी नहीं गिना जाता। बुद्धिमान मनुष्य की यह समझ रहती है, कि जो आपत्ति इस समय दूसरे ग्रामवासियों पर है, भविष्य में यही आपत्ति, यदि अभी से उसके प्रतिकार का उपाय न करूगा, तो मुझपर भी आवेगी। और वह आपत्ति के प्रतिकार का यही उपाय सोचता है, कि अपने ग्रामवासियों के सिरपर आई हुई आपत्ति को न्याय-पूर्वक दूर करने का प्रयत्न किया जाय।

"मेरा कर्तव्य है कि नगर में पाप-कर्म न बनने पावें, इसका प्रबन्ध करू" ऐसा समझकर जो मनुष्य प्रबन्ध करता है, वही नगर थीवर कहा जाता है।

आज, कुछलोग नागरिक कहलाने का दावा तो करते हैं,

किन्तु नागरिक के नियमों का अच्छी तरह पालन नहीं करते। नगर निवासियों की रक्षा में अपना क्या अटका, यह बात कह-कर अपने स्वार्थीपन या कृतघ्नता का परिचय देते हैं।

जो मनुष्य स्वार्थत्यागी हो और आवश्यकता पड़ने पर अपने तन धन बलिदान दे सकता हो, वही धीवर बन कर काम कर सकता है। जिसके हृदय में लोभ होगा, वह मनुष्य धीवर-पना नहीं कर सकता, धीवर कैसा होना चाहिए, इस के लिये एक शास्त्रीय उदाहरण दिया जाता है। उपासक दशाङ्ग सूत्र के प्रथम अध्ययन में कहा है—

से ए आणन्दे गाहावई बहूणं राईसर जाव सत्थवा-हाणं बहूसु कज्जेसु य कारणेसु य मन्तेसु य कुटुम्बेसु य गुज्झेसु य रहस्सेसु य निच्छएसु य ववहारेसु य आपुच्छणिज्जे पडिपुच्छणिज्जे सयस्सवि य णं कुटुम्बस्स मेढी पमाणं आहारे आलम्बणं चक्खू, मेढीभूए जाव सव्वकज्जवड्ढावए यावि होत्था ॥

भावार्थ—वह आनन्द गृहस्थपति, बहुत से राजेश्वर, यावत् सार्थवाहियों को, बहुत से कार्यों में, बहुत कारण में, बहुत सलाह करने में, उनके कुटुम्ब में और बहुत से गुह्य (गुप्त) कार्यों में, बहुत से रहस्यपूर्ण कार्यों में, निश्चित कार्यों में और व्यवहार कार्यों में एक बार पूछने लायक, तथा बारबार पूछने लायक था। वह अपने कुटुम्ब में भी मेढी के समान और प्रमाण, आहार, आलम्बन, चक्षु और मेढीभूत होकर सब कामों में बढ़ाने वाला था।

यदि इस सब का विस्तृत विवरण बतलाया जावे, तो बहुत समय की आवश्यक्ता है। अतः संक्षिप्त में ही खास-खास बातों पर कुछ कहा जाता है।

कहा है कि 'आनन्द' मेढ़ी के समान था। मेढ़ी उसे कहते हैं, जिस लकड़ी के सहारे बैल दाँवन में फिरते हैं। इसका यह मतलब है, कि आनन्द प्रधान मनुष्य था, अन्य मनुष्य उसी के बताये हुए नियमों का पालन करते थे।

आनन्द 'प्रमाण' अर्थात् कभी अप्रमाणिक-बात न कहने वाला था।

आनन्द, आहार अर्थात दूसरे मनुष्यों की रोटी था। रोटी, जैसे मनुष्य के प्राण की रक्षा करती है, वैसे ही आनन्द राजा और प्रजा की रक्षा करता था।

आनन्द, आलम्बन था। आलम्बन उसे कहते है, जिसका सहारा लिया जावे। जैसे, अन्धे के लिये लकड़ी सहारा है, उसी प्रकार आनन्द, राजा, प्रजा और कुटुम्ब इन सब का सहारा था। आनन्द को आलम्बन कहा है, तो वे राजा और प्रजा को आधार देते होंगे, तभी तो आलम्बन कहे गये हैं न?

आगे कहा गया है, कि आनन्द चक्षु था। इसका यह मतलब है, कि वे राजा और प्रजा दोनों को सन्मार्ग दिखाते थे। क्योंकि यदि ऐसा न होता, तो उन्हें चक्षु अर्थात नेत्र क्यों कहा जाता?

भगवान् कहते हैं, कि आनन्द ने चौदह वर्ष तक श्रावक

हरण न देकर इस समय के राष्ट्र–थीवर का ही ज़िक्र करते हैं ।

आज, गान्धीजी को देखकर ससार जानगया है, कि राष्ट्र-थीवर कैसा होता है । उनकी जीवनी को देखो, तो मालूम हो, कि राष्ट्र–थीवर को कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं । जिन लोगों को अपनी आत्मा ही प्यारी नहीं है, उनमें ऐसी सहिष्णुता का आविर्भाव हो तो कैसे ?

राष्ट्र–थीवर को राष्ट्र के रहन–सहन, खानेपीने आदि का पूरा ध्यान रहता है । वह, पराये देश के खान–पान अथवा रहन सहन पर नहीं लुभाता । आज, भारत के कुछ लोगों ने अपने राष्ट्र धर्म को छोड़कर यह दशा ग्रहण की है, कि रहते तो हैं हिन्दुस्तान में और बनते हैं अंग्रेज । उन्हें, न तो हिन्दुस्तानी बोली पसन्द है, और न हिन्दुस्तानी खाना पीना । वे, अंग्रेजों की ही तरह टेबल–कुर्सी पर बैठकर छुरी–चमचे से ही अंग्रेजों के समान खाना खाने में सौभाग्य मानते हैं । यह राष्ट्र का दुर्भाग्य है ।

इस कुत्सित–चाल के चल निकलने का कारण, लोगों के हृदय की दुर्बलता है । बड़े–बड़े कहानेवाले मनुष्य विलायत जाते हैं और अपने राष्ट्र–धर्म को भूलकर इसी विलायती ढङ्ग को अख्तियार कर लेते हैं । विलायत में, मनुष्य के चरित्र को गिराने के लिये कैसी–कैसी परिस्थितियें उत्पन्न होती हैं, यह बात गान्धीजी की जीवनी देखने पर मालूम होती है ।

गान्धीजी, जब विलायत जाने लगे, तो इनकी माता, इनके

बिगड़ जाने के भय से इन्हें बेचरस्वामी नामक एक काठियावाड़ी साधुमार्गी जैन मुनि के पास ले गईं और कहा, कि यदि ये मांस, मदिरा और पर स्त्री के सौगन्द आपके सामने ले लें, तो मैं इन्हें विलायत जाने की आज्ञा दे सकती हूं। गान्धीजी ने इन तीनों बातों की सौगन्द खाई और विलायत गये। विलायत में इन्हें इस प्रतिज्ञा पर से हटाने के लिये बड़े-बड़े प्रसङ्ग आये। यदि उपरोक्त जैनमुनि के सम्मुख की हुई प्रतिज्ञा से ये न बँधे होते, तो यह नहीं कहा जा सकता, कि गान्धीजी आज जैसे हैं, वैसे गान्धीजी रह जाते। अस्तु।

अपना सर्वस्व देकर जो व्यक्ति अपने प्राण भी राष्ट्र के लिये कुर्बान करने को तैयार हो जाता है, वही राष्ट्र-वीर पद का कार्य कर सकता है।

एक भाई प्रश्न करते हैं, कि गान्धीजी ने हम लोगों का बड़ा नुक्सान किया है। हम लोगों से लाखों रुपये स्वराज्य के नाम पर वसूल करके कुछ न किया, इसलिये वे राष्ट्र-वीर की अपेक्षा राष्ट्र-घाती क्यों न कहे जायँ?

परन्तु मैं पूछता हूँ, कि गांधीजी वह रुपया ले कहां गये? क्या उन्हों ने उन रुपयों से अपना घर बनाया है?

"लड़के को दुकान करा दी" *

* महात्मा गान्धीजी के बड़े पुत्र श्री० हीरालालजी गान्धी ने कलकत्ते में एक कम्पनी खोल रखी है। महात्माजी ने इन्हें अपने से पृथक करादिया है। क्योंकि इनके कुछ व्यवहार उन्हें पसन्द न थे। उपरोक्त कम्पनी,

राष्ट्र का कल्याण गँवा दिया जाय। राष्ट्र-धर्म का ध्यान न रखकर, केवल अपने स्वार्थ के लिये, राष्ट्र के ऐसे सेवक पर अनुचित आक्षेप करना बहुत बुरी बात है। किसीका, गांधीजी से अन्य बातों में मतभेद होसकता है, किन्तु राष्ट्र धर्म के नाते उनकी सेवाओं को आदर्श नहीं मानना, बुद्धिमानी नहीं है।

सुनते हैं, कि पहले एक-रुपये के छः मन चाँवल बिकते थे और एक रुपये का तीस सेर के भाव घी बिकता था, तो उस समय कपड़े का भाव कैसा रहा होगा?

"खूब—सस्ता"

हाँ, ऊपर से चाहे पैसे न दीखते रहे हों, किन्तु देश तब सुखी था या अब?

"तब"

पूज्यश्री श्रीलालजी महाराज अपने व्याख्यान में फरमाया करते थे, कि जब अन्न-कपड़ा सस्ता और सोना-चाँदी महँगा हो, तो वह जमाना पुण्य का और सोना-चाँदी सस्ता तथा अन्न-कपड़ा महँगा हो, तो वह जमाना दुर्भाग्य का समझना चाहिए। क्योंकि सोने चाँदी को कोई खा नहीं सकता, अन्न-कपड़ा तो खाने-पहनने के काम में आता है।

यदि एक रुपये के आठ मन चाँवल बिकते हों और कोई गरीब किसी के घर पर आजाय, तो वह उसको भारी न मालूम हो। ऐसे सस्ते-जमाने में ही उनपर दया होती थी, उन से प्रेम होता था। आजकल, अच्छे-चाँवल १) रुपये सेर तक के भाव में मिलते हैं

अत्यन्त स्नेही सम्बन्धी के आने पर भी विचार होता होगा कि ये वापस कब चले जावें।

अपना स्वार्थ छोड़कर यदि कोई विचार करे, तो मालूम हो कि राष्ट्र सुखी कैसे हो सकता है। इस के लिये एक दृष्टान्त दिया जाता है —

एक आदमी पर देवता प्रसन्न हुआ। उसने कहा कि "मैं दो बातों में से एक बात दे सकता हूँ। पहली बात तो यह है कि मैं बड़े-बड़े आम, नारंगी आदि फलवाले बड़े-बड़े झाड़ दूँ और दूसरी यह कि ज्वार, गेहूँ आदि के छोटे-छोटे पौधे दूँ। तब उस बुद्धिमान ने कहा कि मुझे बड़े-बड़े झाड़ न चाहिएँ, बल्कि गेहूँ बाजरी आदि के छोटे-छोटे पौधे चाहिएँ।

देवता ने पूछा कि बड़े-बड़े झाड़ छोड़कर छोटे-छोटे पौधे क्यों माँगते हो? तब बुद्धिमान ने उत्तर दिया कि बड़े-बड़े झाड़ों के फल से अमीर उमरावों के मौज शौक का काम चल सकता है, परन्तु आम दुनिया का नहीं। और गेहूँ बाजरी आदि के पौधे से गरीब से लेकर तवङ्गर तक सभी का भरत्तण होता है। अतएव, मैं थोड़े तवङ्गरों की मौजशौक को मान न देकर, आम दुनिया का जिस में फायदा हो, वही चीज पसन्द करता हूँ। देवता ने आशीर्वाद दिया कि तेरी बुद्धिमत्ता को धन्यवाद है।

इसी प्रकार, जबतक मनुष्य अपना स्वार्थ छोड़कर सब की सुविधा नहीं सोचता, तब तक राष्ट्र के कल्याण की भावनाएँ उसके हृदय में उत्पन्न नहीं होती। राष्ट्र का कल्याण

वही कहा जाता है, जिसमें जन साधारण का कल्याण हो। परन्तु यह नहीं कि जिसमें कुछ लफङ्गों को फायदा मिले और जन साधारण का अकल्याण हो। जब तक, मनुष्य अपना स्वार्थ छोड़कर हृदय में राष्ट्रीय-भावना का उदय नहीं करता, तब तक राष्ट्र के दुःख सुख की ओर उसका ध्यान भी नहीं जाता।

कई लोग कहते है कि ये सासारिक बातें हैं, परन्तु यह नहीं सोचते कि जितनी धर्म की बातें हैं, वे सब ससार के ही विचार से की जाती हैं। जिसमें ससार का कल्याण हो, उसे धर्म की बात कहते हैं और जिसमे ससार का पतन हो, उसे पाप की बात कहते हे। इसी लिये राष्ट्र-धर्म और राष्ट्र थविर की बात शास्त्रकारों ने बतलाई है, फिर हमें उसकी व्याख्या करने में क्या दोष ? पुण्य पाप की बातें ससार की ही है किन्तु पुण्य को पुण्य और पाप को पाप बतलाने में कोई दोष नहीं। अस्तु।

दिन प्रतिदिन, भारतवर्ष से राष्ट्र धर्म का लोप हुआ दिखाई देता है। इसी से राष्ट्र की अधोगति है। लोग, राष्ट्र धर्म से दूर रहने मे ही अपना कल्याण मान बैठे हैं। एक दिन, जिस देश में मकानों में ताले नहीं लगाये जाते थे, वहीं आज पारस्परिक अविश्वास की यह दशा है कि बाप बेटा और पति-पत्नि का विश्वास न रहने से बेटा, बाप से और बाप, बेटे से तथा पत्नि, पति से, एवं पति, पत्नि से ताला लगाते है। चोरी और डाका की सख्या दिन दिन बढ़ती ही जाती हैं। कितने ही लोग तो भूखों मरते हुए विवश होकर बुरे काम करते है।

जिस राष्ट्र में राष्ट्र धर्म की समुचित व्यवस्था होती है, वह राष्ट्र अपने आदर्श के सन्निकट पहुंचजाता है।

जिस बाग में हजार झाड़ आम के हैं और १०-२० झाड़ नींबू जामुन आदि के हैं, वह बाग किन झाड़ों का कहा जायगा?

"आम का"

भारतवर्ष में गरीब बहुत हैं और अमीर थोड़े, ऐसी दशा में यह देश गरीबों का है या पूँजीपतियों का?

"गरीबों का"

बड़े-बड़े सेठ लोग भी गरीबों के पीछे हैं। अब, उन गरीबों की रक्षा न हो और अमीरों के पास थोड़ा थोड़ा धन बढ़ता जाय, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि देश सुखी हो रहा है। क्योंकि देश गरीबों का है, इसलिये जब तक गरीब सुखी न हों, तब तक देश सुखी नहीं कहा जासकता।

राष्ट्र-धर्म वह है, जिससे राष्ट्र में अन्न-वस्त्र के लिये मनुष्य मरते न हों, परस्पर विद्रोह करके एक दूसरे का वैरी न बनता हो। किन्तु आज, ज्यादातर लोगों ने अपने-अपने नेत्रों पर स्वार्थ का चश्मा चढ़ा रखा है, अतः उन्हें गरीबों के जीने-मरने का ध्यान नहीं है, उन्हें तो अपनी तिजोरी भर लेने से ही काम है।

भारतवर्ष की स्थिति कितनी नाजुक होगई है, यह बात बहुतों को तो मालूम भी नहीं। कुछलोग तो स्वार्थ में लगे हैं और कुछ अज्ञान में ही गोते खा रहे हैं।

एक घर में, एक आदमी तो खूब खाता हो, भूख न होने

भी तरह-तरह के माल उड़ाता हो और दस-आदमी भूखों मरते हों, तो उस एक को क्या संसार में कोई मनुष्य अच्छा कह सकता है?

"नहीं"

इस बात को बहुत थोड़े आदमी समझते हैं। आजकल तो दया को नष्ट करने के लिये ही आन्दोलन हो रहा है, तो फिर राष्ट्र-धर्म की भावना कैसे हो सकती है? क्योंकि राष्ट्र धर्म माननेवाले के हृदय में, सब से पहले, गरीबों के प्रति, करुणा का भाव उत्पन्न होता है।

सुना जाता है कि एक तरफ तो भारतवर्ष में करीब छः करोड़ मनुष्य एक समय खानेको पाते हैं, अर्थात्, पूरा पेट भर भोजन नहीं पाते और दूसरी तरफ कुछ लोग मौज-शौक से माल उड़ाते हुए, बेभान होकर द्रव्य का नाश करते हैं। और, उन गरीबों के हित की चिन्ता भी नहीं करते, यह कितनी कृतघ्नता है। जिन गरीबों की सहायता से तिजोरियें भरी हैं और अमीर बने हैं, उन्हीं की दशा पर विचार न करना, घोर स्वार्थीपन और अमानुषिकता है।

कोई यह कहे कि गरीबों ने कर्मों की अन्तराय ही ऐसी बांध रखी है, फिर धनवानों को उनकी तरफ लक्ष्य देने से क्या मतलब? तो समझना चाहिये कि ऐसा कहनेवाला मनुष्य स्वार्थ-साधक ही हो सकता है। परमार्थिक मनुष्य, ऐसा कभी नहीं कह सकता। वह समझता है कि जिसको अन्तराय-कर्म से दुःख होता है, उसी पर दयालु-पुरुष दया करता है। क्योंकि दया दुःखियों की

ही होती है। यदि दुखी न हों, तो सुखी मनुष्यों को दया करने का उपदेश देने की ही क्या जरूरत है? परन्तु बुद्धिमान ऐसा समझते हैं कि जैसे, मैं उद्योग से, गरीबों के पास से धन कमाता हूँ, उसी तरह मुझे गरीबों पर दया भाव रखकर धर्म और पुण्य की प्राप्ति करना ही श्रेयस्कर है।

उपकार के समय यह कह देना कि "यह तो उनके कर्मों का फल है" संसार से उपकार को विदा करना है। यह दया नहीं बल्कि निर्दयता है। यदि ऐसा मानों, कि अन्तराय बाधी, उसका फल भोगते हैं तो फिर आपलोगों को भी उद्योग करने की क्या आवश्यकता है? चुपचाप पड़े रहकर यह क्यों नहीं सोच लेते कि कर्मों का फल भुगत रहे हैं, अत यदि अच्छे कर्म किये होंगे, तो खाने को अपने आप मिल जायगा? अस्तु।

ये सेठाई और गरीबी, दोनों ही अपने अपने कर्त्तव्यों का फल है। किसी के छाप नहीं लगी होती है कि यह सेठ है और यह गरीब है।

राष्ट्र-थीवर वह है, जो राष्ट्र के कल्याण की चिन्ता करे। शास्त्र कहता है कि चाहे एक ही व्यक्ति हो, परन्तु यदि राष्ट्र की चिन्ता करे, तो वही थीवर है। जो मनुष्य यह ध्यान रखे कि मेरे खाने, मेरे पहनने-ओढ़ने और रहन सहन से राष्ट्र की कोई क्षति न होने पावे, वह भी राष्ट्र थीवर है।

आज अधिकांश भारतीयों में से, राष्ट्र-धर्म का निशान भी मिटगया है। इसके विरुद्ध, यूरोपियन-जातियों में

राष्ट्र के प्रति कैसी भावना है, यह बात उदाहरण देकर बतलाते हैं।

सागर के एक श्रावक की दूकान पर देशी और विलायती दोनों प्रकार के माल बिकते थे। एक दिन, उनकी जान-पहचान के एक अंग्रेज़ ने, अपने नोकर को चाँवल खरीदने भेजा। उपरोक्त श्रावक के पास उस समय देशी और विलायती दोनों प्रकार के चाँवल थे। किन्तु, विलायती चाँवलों की अपेक्षा देशी चावल बहुत बढ़िया और सस्ता था। सेठजी ने सोचा, कि साहब को बढ़िया चावल देने चाहिएँ, अत उन्होंने देशी चाँवल ही दे दिये। जब, नौकर चाँवल लेकर साहब के पास पहुंचा, तो साहब नौकर पर बहुत बिगड़ा और खरी खोटी सुनाने के बाद हुक्म दिया कि ये चाँवल वापस लौटाकर विलायती चाँवल खरीदलाओ। बेचारा नौकर भागा हुआ सेठजी की दूकान पर वापिस गया और सारी कथा कह सुनाई। सेठजी ने वे चाँवल वापिस ले लिये और उनकी क़ीमत से चौगुनी क़ीमत लेकर विलायती चाँवलों का एक डिब्बा दे दिया। कुछ दिनों के बाद, सेठजी की उसी यूरोपियन से मुलाकात हुई। तब इन्होंने इसका कारण पूछा। यूरोपियन ने उत्तर दिया, कि विलायती-चाँवल खरीदने से, उनकी क़ीमत, हमारे देशवासियों को मिलेगी। हम, ऐसे मूर्ख नहीं हैं, कि यहाँ आकर अपने देशवासियों का ध्यान न रखें और अपने देश का माल खरीदकर यहाँ पैसा न पहुँचाते, यहाँ के लोगों को पैसा दें।

इसी तरह बम्बई के एक श्रावक एक दिन ज़िक्र करते थे, कि बम्बई में एक यूरोपियन ने अपने नौकर से एक जोड़ फुल-बूट लाने को कहा। नौकर, एक देशी दूकान से बहुत अच्छा फुल-बूट १०) रुपये देकर ले गया। साहब ने जब देखा कि यह देशी फुल-बूट ले आया है, तो वे नोकर पर बुरी तरह बिगड़े और उसे कहने लगे कि "मूर्ख! ये देशी फुल बूट क्यों खरीद लाया?" नोकर ने उत्तर दिया कि ये बहुत अच्छे है, आप एकबार इन्हें पहन कर देखिए तो सही। यह सुनकर साहब ने नौकर को बहुत सी गालियें दीं और कहा कि इस बूट की क़ीमत तुम अपने पास से दो और हमारे लिये विलायती बूट जोड़ खरीद कर लाओ। नौकर, उन जूतों को लिये हुए दूकान पर वापस गया और दूकान-दार से सारी कथा कहकर प्रार्थना की कि वह अपना हर्जाना काटकर बाकी की रकम, बूट के बदले वापस लोटा दे। दूकानदार था भला आदमी। उसे इस गरीब पर दया आई उसने, इस प्रकार गरीब की हानि करना उचित न समझ, बूट लेकर, उनकी पूरी क़ीमत वापिस लोटा दी। क़ीमत वापस लेकर, नौकर एक यूरोपियन की दूकान पर गया और चौगुनी के क़रीब क़ीमत देकर, एक विला-यती-जोड़ा खरीदलाया। साहब को यह जोड़ा बहुत पसन्द आया। नौकर ने साहब से पूछा कि यह जोड़ा चौगुनी क़ीमत का होने पर भी वैसा अच्छा नहीं है, फिर आपको कैसे पसन्द आया? तब साहब ने उत्तर दिया, कि यह हमारे देश का बना हुआ है, अत इसका पैसा, हमारे देश को जावेगा। हम लोग, भारतीयों की तरह

मूर्ख थोड़े ही हैं, हमें सदैव अपने देश का ध्यान रहता है।

उपरोक्त उदाहरणों से, आपको विदित हुआ होगा, कि यूरोपियन जातियों में, अपने राष्ट्र के प्रति कैसी भक्ति है। वे, हज़ारों मील दूर भारत में रहकर भी, अपने देश की बनी हुई महँगी चीज़ होने पर भी उसीका उपयोग करते है। और भारत के लोग, भारतवर्ष में रहते हुए, देश के पतन की अवस्था में भी, विदेश का बना हुआ कपड़ा पहनते हैं, यह भारत को और भी अधिक पतन की ओर ले जाना नहीं तो और क्या है?

धार्मिक दृष्टि से भी विदेशी वस्त्र कितने खराब हैं, यह बात आप लोगों को विदित ही है। लाखों पशुओं का वध करके निकाली हुई चर्बी, जिन वस्त्रों में लगती है, उन वस्त्रों को काम में लाना क्या धर्म-भ्रष्टता नहीं है?

जिस देश के मनुष्य, अपने देश तथा अपने देश की बनी हुई वस्तुओं की क़दर नहीं करते, उस देश के मनुष्यों की क़दर दूसरे देशों में नहीं रहती दिखाई देती है। किसी साधारण-ग्राम में यदि कोई गोरा (फिर चाहे वह बावर्ची ही हो) आजाय तो सब लोग "साहब आया," "साहब आया," कह कर सलाम करेंगे। इसके विरुद्ध भारतीयों की विदेशों में क्या क़दर है, यह बतलाने की आवश्यक्ता नहीं। कौन नहीं जानता कि गान्धीजी को दक्षिण आफ्रिका में 'कुली बैरिस्टर' कहते थे? सुना है कि अभी थोड़े ही दिन पहले, किसी अन्य देश में रवीन्द्रनाथ टैगोर का बड़ा अपमान हुआ था। कई बड़े बड़े भारतीयों

को विदेशों में बुरी तरह अपमानित होना पड़ा है। इसका कारण यह प्रतीत होता है, कि एक की भूल, दूसरे को शूल होती है। जब भारत के मोटे भाग का जन-समाज, अपने राष्ट्र-धर्म को भूलकर, विदेशी चीजों को अपनाता है, तब उसका फल, भारतीय होने के कारण, गान्धीजी और रवीन्द्रनाथ जैसे नेता पुरुष को भी भोगना पड़ता है।

जबतक, राष्ट्र धर्म का हृदय में वास न हो, तबतक कोई मनुष्य राष्ट्र का वीवर नहीं हो सकता। इसके लिये बड़े त्याग और कष्ट सहिष्णुता की अपेक्षा रहती है। भारतीयों के पतन का मुख्य कारण यह है कि राष्ट्र का समुचित धर्म और उस धर्म के पालनेवाले वीवरों का अधिकांश में अभाव है।

इतिहास को देखने से पता लगता है, कि भूतकाल में इस देश के वीवरों ने अपने राष्ट्र और राष्ट्र धर्म की रक्षा के लिये कैसे कैसे कष्ट उठाये हैं। इसके लिये महाराणा प्रताप का ही उदाहरण काफी है, कि उन्होंने अपने देश की लज्जा बचाने के लिये कैसे-कैसे घोर-सङ्कट सहे हैं। अठारह वर्ष तक अर्बली पहाड़ की घाटियों में नाना प्रकार के कष्ट सहते और अन्न न मिलने के समय घास फूस के बीज खा-खाकर घूमते रहे। वह रानी, जो राजमहलों में सुख से रहती थीं, इस समय अपने हाथ से पीसती और रोटी बनाती थी। राणा के बच्चे, रोटी के एक-एक टुकड़े के लिये रोते थे, किन्तु देश की बात नीची न हो जाय, इस लिये राणा यह सब कष्ट धैर्यपूर्वक सहते और सुनते

रहे। यदि वे अकबर को सिर झुका देते, तो उनके लिये सब आराम प्रस्तुत थे। किन्तु राणा ने सब आरामों को लात मारकर, राष्ट्र धर्म का रक्षा के लिये विपत्ति को सिर पर उठाया। जबतक इतना त्याग और साहस करनेवाले मनुष्य राष्ट्र में नहीं होते, तबतक न तो राष्ट्र धर्म का ही पालन होता है, और न राष्ट्र का उन्नति या प्रतिष्ठा ही होती है।

जिस देश में महाराणा प्रताप हुए, आज उसी देश में ज्यादातर यह दशा है, कि लोग अपने घर से तो प्रेम करते हैं, किन्तु राष्ट्र के प्रति उनके हृदय में तनिक भी प्रेम नहीं होता। उनसे पूछा जाय कि क्या घर में कोई ऐसी चीज़ भी है, जो राष्ट्र से सम्बन्ध न रखती हो? और चीज़ों को जाने दो, रोटियों को ही देखो कि ये किसके प्रताप से मिल रही हैं? इतना होते हुए भी अज्ञान अजाने में राष्ट्रीय भावनाओं का लोप होगया है। इसी अज्ञान के कारण, आज भारत के पैरों में परतन्त्रता की बेड़ियें पड़ी हैं। अस्तु।

मैं पूछता हूँ कि तीर्थङ्कर भगवान कहाँ जन्मे थे?
"इसी भारत में"

इसी बात पर से भारतवर्ष का महत्व आप लोगों को समझना चाहिए कि इस पवित्र—भूमि में क्या क्या करामातें हैं। तीर्थङ्कर आदि महान्-महान् अवतारों का इसी देश में जन्म हुआ, दूसरे देशों में नहीं। इससे स्पष्ट है, कि इस देश की भूमि में कुछ विशेषता है।

भारत की प्रकृति का जिन विदेशियों ने अध्ययन किया है वे कहते है कि भारतवर्ष पारसभूमि है। मानवी-आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये, यहाँ सब चीजें पैदा होती है। आवश्यकता—पूर्ति की दृष्टि से तो यह देश स्वतन्त्र है। किसी भी वस्तु के लिये अन्य देशों का मुहताज नहीं है। सुनते हैं, कि इँग्लैण्ड में आलू आदि पदार्थ तो खूब पैदा होते है, किन्तु नाज इतना कम पैदा होता है, कि यदि भारत या अन्य उपजाऊ देशों से अनाज वहाँ न भेजा जावे, तो इँग्लैण्डवालों को पूरा अन्न मिलना मुश्किल हो जाय। किन्तु यदि भारत में कोई चीज विदेशों से न आवे, तो भारत किसी भी वस्तु के बिना नहीं रुक सकता।

इस भारत में गङ्गा यमुना के समान सुखदायक नदियें और हिमालय के समान अद्वितीय ऊँचा पहाड है। एक कवि कहता है कि—" जिस देश के नदी और पहाड जैसे बड़े होते है, उस देश के महापुरुष भी वैसे ही बड़े होते है।"

महावीर, बुद्ध, राम और कृष्ण के समान महापुरुष इस भारत में पैदा हुए हैं, ऐसी रत्नगर्भा यहाँ की भूमि है। अब, यदि इस देश का अपमान हो, यहाँ के लोग दूसरों के बन्धन में हों, तो यह कितने दुःख की बात है। इस दुःख का कारण यही है, कि अधिकांश लोगों के हृदय से राष्ट्र के प्रति श्रद्धा और ईश्वर की आज्ञापालन के भाव नष्ट होगये थे। अब, समय के परिवर्तन से इन भावों की जागृति भारत में फिर होती दिखाई देती है।

बुद्धिमानों का कहना है, कि यह बात खूब ध्यान में रखनी

चाहिए, कि जो मनुष्य अपने राष्ट्र के मानापमान का ध्यान नहीं रखता है, उसका मान त्रिकाल में भी नहीं हो सकता। जो लोग अपने मन में यह निश्चय करलें, कि हम भारत के बने हुए कपड़े के सिवाय अन्य कपड़ा न पहनेंगे, तो उनके इस निश्चय में उनकी कोई हानि नहीं है, बल्कि धार्मिक दृष्टि से भी लाभ है।

किन्तु यह सरल-न्याय भी लोगों को बड़ा कठिन लगता है, और राष्ट्र धर्म के इस महत्वपूर्ण कार्य की उपेक्षा करते हैं, यह उनके अज्ञान का फल है। अज्ञान, अविद्या का ही दूसरा नाम है। जबतक भारत में राष्ट्र-धर्म की शिक्षा का प्रबन्ध नहीं है, तबतक लोगों के हृदय में राष्ट्रीयता के भाव उत्पन्न होना कठिन है।

" पसत्थार-थेरा "

ग्रामथेरा, नगरथेरा और राष्ट्रथेरा इन तीनों का वर्णन हो चुका, अब चौथे थीवर " पसत्थार थेरा " अर्थात् ' प्रशास्ता स्थविर " के विषय में कुछ कहते है।

ठाणाङ्ग-सूत्र में इसकी टीका करते हुए टीकाकार कहते हैं –

" प्रशासति शिक्षयन्ति ये त प्रशास्तारः धर्मोपदेशकास्ते च ते स्थिरीकरणात् स्थविराश्चेति प्रशास्तृस्थविरा। "

अर्थात्---शिक्षा देनेवाले का नाम प्रशास्ता है और जो धर्मोपदेशक या शिक्षक, अपनी शिक्षा के प्रभाव से शिष्यों को धर्म में दृढ़ कर देते है, वे प्रशास्तृस्थविर कहे जाते हैं।

साधारण शिक्षकों या अन्य शिक्षा देनेवालों को प्रशास्ता कह सकते हैं। किन्तु जो मनुष्य अपने प्रबन्ध से या शिक्षा-शैली से अपने अनुयायियों को धर्म में दृढ़ करता अर्थात् सन्मार्ग पर लाता है, वह प्रशास्ता थीवर है।

राष्ट्र की शिक्षा कैसी होनी चाहिए, इस बात को गहरी-दृष्टि से विचारने तथा शिक्षा विभाग की सुव्यवस्था करने-वाला मनुष्य प्रशास्ता थीवर कहा जाता है।

आज, भारतवर्ष की शिक्षाशैली तथा व्यवस्था कैसी है, यह बात देखनी चाहिए। क्योंकि राष्ट्र की उन्नति किंवा अवनति शिक्षा पर ही निर्भर है। जिस शिक्षा से राष्ट्र की उन्नति न

हो, वह शिक्षा भी कोई शिक्षा है ?

आज, यहाँ की शिक्षा प्रणाली कुछ ऐसी दूषित है, कि भारतीयों में भारतीय भाव ही नहीं रहजाते। जो विदेशी जिस देश को अपने पैरों तले दबाये रखना चाहते होंगे, वे भला उस देश को अच्छी शिक्षा क्यों देने लगे ? उन्हें तो केवल अपने मतलब की गर्ज होती है, अत जैसी शिक्षा देने से उनका मतलब होता होगा, वैसी ही शिक्षा देंगे।

पहले, जब शिक्षा में राष्ट्रीय भाव भरे रहते थे, तब राष्ट्र का सिर ऊँचा रहता था और जनता सुख समृद्धि से पूर्ण रहती थी।

श्रोता—"किन्तु पहले के व्योपारियों के पास तो इतना धन न था, जितना आज है। थली प्रान्त में हजारों लखपती रहते हैं और मजूर भी सोने के जेवर पहनते हैं। पहले, लोग अपने ही गाँव में रहते और हल हाँककर या नमक मिर्च बेंचकर गुजर करते थे, किन्तु अब कलकत्ता और बम्बई जाकर बड़े-बड़े व्योपार करते हैं, तो क्या यह अंग्रेजों की शिक्षा का प्रताप नहीं है ?"

मैं पूछता हूँ, कि थलीवालों ने जो धन कमाया है, वह भारत का ही है, या कहीं बाहर का ?

"भारत का ही"

तो इसका क्या अर्थ हुआ ? यही न, कि जो खून सारे शरीर में दौड़ता था, वह एकत्रित होकर एक स्थान पर जम गया, या एक पैर तो खम्भे के समान मोटा होगया और दूसरा बेंत की

ओर पतला। यदि किसी मनुष्य के शरीर की यह दशा हो, तो क्या वह सुन्दर कहा जा सकता है?

"नहीं"

यदि शरीर में कहीं नया खून आवे, तो दूसरी बात है, किन्तु जब शरीर के एक अङ्ग का खून खाली होकर दूसरे अङ्ग में चला जाय, तो यह शरीर की उन्नति नहीं, बल्कि अवनति है। इसका परिणाम यह हो सकता है, कि जो शरीर पहले सशक्त था, वह अब निर्बल हो जायगा। इसी प्रकार यदि गरीबों की रोजी मारकर धन बढ़ा, तो उस धन से क्या लाभ हो सकता है? यदि धन मिलने के साथ साथ कल्याण-बुद्धि और मिलती तथा दूसरों के कल्याण में लग जाते, तब कह सकते थे कि हाँ, धन बढ़ा है। जहाँ रुपया-पैसा बढ़ जाता है और उसके साथ बुद्धि तथा शक्ति उन्नत के बदले अवनत हो जाती हैं, तो उस धन का होना और न होना, दुनिया में दोनों बराबर कहे जाते हैं। आज-कल धनवान लोगों की शारीरिक-शक्ति की ज़्यादातर यह दशा सुनी जाती है, कि यदि एक जाट बिगड़ खड़ा हो, तो दस आदमी भी उसका कुछ नहीं कर सकते। इस दशा मे यह पता चलता है, कि लोगों ने वैसी रीति से धन नहीं पैदा किया है, जैसी रीति से वास्तव में पैदा किया जाता है। नीतिवान् कहते हैं, कि धन की वास्तविक-पैदायश जमीन से है। जमीन से जो धन पैदा होता है, अर्थशास्त्री उसे ही वास्तविक धन कहते हैं। इस बात की पुष्टि आनन्द श्रावक के चरित्र से भी होती है।

आनंद श्रावक के पास १२ करोड़ सोनया तथा ४० हजार गौएँ और ५०० हल थे। इन हलों से वह जो कुछ पैदा करता था, उसे ५०० गाड़ियां में भर भरकर घर पर लाता था तथा ५०० गाड़ियों से देशावर को लेजाता था। इस प्रकार वह धनी भी था और हजारों मनुष्यों को जीविका भी देता था। आज, कई एक धन्देवाले हजारों मनुष्यों की आय हरण करके आप अकेले ही धनी बनते हैं। इसमें उन लोगों में छल कपट अधिक बढ़ जाता है, परन्तु वास्तविक धनोपार्जन नहीं कहा जा सकता। यदि कोई मनुष्य, हजारों के घर के दीपक बुझाकर, अपने घर में मशियाल जलावे, तो यह उचित नहीं समझा जाता, इसी प्रकार लाखों मनुष्यों का आय को नष्ट करके, केवल अपनी आमदनी बढ़ा लेने को कोई नीतियुक्त कार्य नहीं कहता। यदि कोई नीति पूर्वक गहरी दृष्टि से विचार करे, तो उसे आज ही मालूम होजाय, कि न्याययुक्त धन किसे कहते हैं और जिसे मैं धन समझ रहा हूँ, वह धन, धन नहीं बल्कि गरीबों का स्वत्व हरण है।

मतलब यह है, कि आज की धन सम्बाहक नीति, आय वैसी नहीं है, जैसी पूर्वकाल में आनन्दादि गृहस्थों की थी। क्योंकि वह नीति गरीबों की पोषक थी और आज की नीति गरीबों की शोषक है। अस्तु।

वही शिक्षा प्रणाली राष्ट्र के लिये कल्याणकारक कही जा सकती है, जिसे राष्ट्र के महात्मा थीवर ने राष्ट्रीय दृष्टि-कोण से पसन्द किया हो।

महात्मा थीवर इस बात पर विचार करता है, कि बालकों को

कैसी शिक्षा दी जानी चाहिए, युवकों को कैसी शिक्षा दी जानी चाहिए और वृद्धों को कैसी शिक्षा दी जानी चाहिए। प्रशास्ता-थीवर सदैव राष्ट्र के कल्याण की दृष्टि से ही इस बात का विचार करता है, अत उसकी प्रचलित की हुई शिक्षा-प्रणाली से राष्ट्र के अकल्याण की सम्भावना नहीं रहती। किन्तु आज, शिक्षा विभाग, राष्ट्र के प्रशास्ता-थीवर के हाथ में नहीं है, अत बालकों की शिक्षा वृद्धों को और वृद्धों की शिक्षा बालकों को दी जाती है। इस शिक्षा का उल्टा परिणाम होता है। यदि शिक्षा विभाग, राष्ट्र के प्रशास्ता-थीवर के प्रबन्ध में होता, तो राष्ट्र के जीवनधन युवक, आज प्राय ऐसे निर्बल, साहस शून्य, गुलामी की भावनावाले और अकर्मण्य होकर, नौकरियों के लिये क्यों मारे मारे फिरते? और नौकरी न मिलने पर या किसी परीक्षा में फेल हो जाने पर नन्तरण कायरों की भाँति आत्महत्या करनेवाले भी क्यों निकलते? इसका एकमात्र कारण, शिक्षाप्रणाली का दूषित होना है।

इस समय देश में हजारों युवक बी०ए०—एम०ए० पास करके दूसरे को बोझ रूप हो पड़े हैं। वे, अपना कार्य स्वयम् कर लेने में भी समर्थ नहीं सुने जाते। बल्कि सुना तो यह जाता है, कि अधिकांश-युवक अपने ठाट-बाट के बोझे को निभाने के-लिये ऐसे अनुचित-कार्य भी कर डालते हैं, जिससे राष्ट्र को घोर हानि पहुँचती है। यदि पूर्वकाल के ढङ्ग का राष्ट्रीय-शिक्षण आज होता, तो ७२ कलाओं में निष्णात युवकवर्ग, हजारों मनुष्यों को लाभ पहुँचाता, एवम् देश का सरक्षक होता। अस्तु।

प्रशास्ता-शीतर के अभाव में आज भारतीय स्त्रियों की शिक्षा की भी कैसी दुर्दशा सुनी जाती है। स्त्री-शिक्षा कैसी होनी चाहिए, स्वच्छन्दता की या विनीतता की, इस बात का विचार प्रशास्ता-शीतर के बिना कौन करे? भारत में पहले भी स्त्रियें शिक्षिता थीं और वह भी ऐसी-वैसा शिक्षित नहीं, बल्कि बड़े-बड़े पण्डितों के शास्त्रार्थ की निर्णायिका बनाई जाती थीं। मण्डन मिश्र और शङ्कराचार्य के शास्त्रार्थ में सुनते हैं, मण्डन-मिश्र की स्त्री भारती ही निर्णायिका बनाई गई थी और कई दिन का शास्त्रार्थ सुनकर उसने निर्णय किया था, कि शङ्कराचार्य जीते और मेरे पतिदेव हारे। इतना सब कुछ होते हुए भी, स्त्रियें 'विनीता' कही जाती थीं। आर आज? आज यह दशा सुनते हैं कि थोड़ा पढ़-लिखकर स्त्रियें प्राय अपने पति को ही डाटा करती हैं। स्वतन्त्रता और विलासिता के लिये उनकी विचारधारा इतनी प्रबल हो जाती है, कि वे एकदम यूरोपियन-स्त्रियों का मुकाबला कर लेना चाहती हैं। कुछ दिन पहले, सुनते हैं कि बम्बई में एक अधिक-शिक्षित बहिन ने स्त्रियों की सभा में भाषण करते हुए कहा था, कि स्त्रियों को भी यह अधिकार मिलने चाहिएँ, कि वे एक से अधिक पति एक साथ करें। यह है, दूषित शिक्षा प्रणाली का दुष्परिणाम। स्त्रियें, दिन-दिन वकील-बैरिस्टर बनती जाती हैं, किन्तु स्त्रियोचित घर का काम कैसे किया जाता है, या बच्चे किस तरह पाले-पोसे जाते हैं, इसका उन्हें विशेष मान नहीं रहता। विनीतता के अभाव से, सदैव, पति पत्नी में मनोमालिन्य रहता है।

शिक्षा देने का यह अर्थ नहीं माना जाता, कि दाम्पत्य-प्रेम नष्ट हो जाय और स्त्रियें सब तरह-स्वतन्त्र होकर विचरण करें।

किन्तु इन सारी हानियों के लिये आज की बेढङ्गी और गैर-ज़िम्मेदार व्यक्तियों के प्रबन्ध से दी हुई शिक्षा-प्रणाली ज़िम्मेदार है। आज की शिक्षा ने स्त्रियों को ऐसे कुमार्ग की ओर प्रवृत्त करना शुरू कर दिया है, जो भारतीय-सभ्यता और प्राचीन-संस्कृति के लिये सर्वथा घातक है। थोड़े ही दिन की बात है, कि महाराष्ट्र के एक उच्च हिन्दू परिवार की एक बहुत शिक्षित लड़की ने अपना विवाह किसी मुसलमान सज्जन से कर लिया। यह बाई बी० ए० थी और खाँ साहब थे एम० ए०। यह आज की बेढङ्गी शिक्षा का परिणाम समझा जाता है। यही कारण है, कि बड़े-बड़े हिन्दुओं ने उसका विरोध किया। खुद उस बाई के घर के आदमियों ने भी विरोध किया, किन्तु परिणाम कुछ न हुआ। यह बहन बी० ए० जो ठहरी। उसे अपने धर्म या पूर्वजों की संस्कृति का क्या ज्ञान? पाश्चात्य-सभ्यता के प्रवाह में बहते हुए उसने हिन्दू-संस्कृति को एक बार घृणा की दृष्टि से देखा और खाँ साहब से शादी कर डाली।

आज की प्रचलित शिक्षा प्रणाली बदलकर जब तक राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली से शिक्षा देना प्रारम्भ न होगा, तब तक राष्ट्र के कल्याण की आशा कैसे की जासकती है? और ऐसा तभी सम्भव है, जब शास्त्र में बतलाये हुए प्रशास्ता-धीवर की स्थापना होकर, राष्ट्र का शिक्षा-विभाग उसके ज़िम्मे कर दिया जावेगा।

"कुल थेरा"

भारतवर्ष एक बहुत बड़ा देश है। यहाँ सदैव विभाजित शासन-प्रणाली ही सफल होती आई है। एक ही शासक, सारे कार्यों को ठीक रीति से करवा सकने में यहाँ कभी सफलता नहीं प्राप्त कर सका है। इसी बात को दृष्टि में रखकर शास्त्र में कुल धर्म और उस धर्म को व्यवस्थित रखने के लिये कुलथेरा या कुल थीवर की व्यवस्था बतलाई गई है।

कुल थीवर दो प्रकार के होते हैं। एक लौकिक कुलथीवर, दूसरा लोकोत्तर-कुलथावर।

लौकिक-कुलथीवर, लौकिक कुल धर्म के समुचित-पालन की व्यवस्था करता है। किस कार्य के करने से कुल की उन्नति होगी और किस के करने से कुल का पतन होगा, इस बात का विचार करनेवाला मनुष्य कुल थीवर कहा जाता है। जो कुल थीवर है, वह आवश्यकता पड़ने पर अपने प्राण दे देता है, किन्तु कुल को दाग नहीं लगने देता।

पहले, ओसवालों में पञ्चलोग कुल थीवर होते थे। ओसवालों को किस प्रकार रहना, किस प्रकार व्यवहार करना और कुलधर्म की रक्षा के लिये क्या क्या उपाय करने चाहिएँ, इसका निश्चय वे ही लोग करते थे। इस प्रथा को जितना बिगाड़ा है, बिगाड़नेवालों को उतना ही दुष्परिणाम भुगतना पड़ा है। कुल थीवर के होने पर

किसी की क्या ताक़त थी, कि कुल के सिद्धान्तों के विरुद्ध, मांस या शराब का उपयोग करे अथवा कहीं बाल विवाह या वृद्ध विवाह हो जाय। जो पुरुष, मर्यादा का भङ्ग करता था, उसे ये कुलथीवर दण्ड देने में समर्थ होते थे। कुल की लज्जा रहे और कुल की श्रेष्ठ प्रथाएँ न मिट जायँ, इसके लिये कुल थीवर पूरा प्रयत्न करते थे। प्रत्येक-मनुष्य इस महत्व पूर्ण पद का भार वहन करने के योग्य नहीं होता, बल्कि विरला ही मनुष्य ऐसा पैदा होता है, जो कुलधर्म की व्यवस्था करने में समर्थ होता है। और जिसके प्रभाव से कुल का प्रत्येक-मनुष्य, अपने अपने कर्त्तव्य को समझता और आचरण करता है।

कुल थीवर के अभाव, एवम् कुल धर्म का पालन न होने के कारण ही, आज विधवा विवाह का प्रश्न उठाया जाता है। विधवा विवाह के प्रश्न की उत्पत्ति के कारण, बाल और वृद्ध विवाह तो हैं ही, किन्तु इनके साथ साथ आज विवाहों में होनेवाले अधाधुंध-खर्च और धूम धड़ाके को भी इसका बहुत अधिक श्रेय है। आजकल, विवाह ऐसे महँगे हो रहे हैं, कि गरीब का तो विवाह होना भी मुश्किल हो रहा है।

पहले, ओसवालों में विवाह कितने रुपयों में हो जाया करते थे?

" सौ दो सौ रुपयों में "

आज कल दो हजार रुपयों में भी विवाह हो सकता है?

" इतने रुपयों में तो जाटों के विवाह होते हैं "

जब, जाटों के विवाहों में दो-दो हजार रुपये खर्च होजाते हैं, तो श्रोसवाल तो उनसे अधिक धनी हैं, अतः उनके विवाहों में जब तक दो हजार पर एक शून्य और न बढ़ाया जाय, तब तक काम कैसे चले ? जब विवाह इतने महँगे हैं, तो गरीबों के कुँआरे और शिक्षित लड़के क्या करें, वे भ्रष्ट हुए बिना रहेंगे ?

" नहीं "

जब वे युवक देखते हैं, कि निधनता के कारण हम विवाह का खर्च नहीं सह सकते, अतः हम कुंआरी लड़की मिलनी असम्भव है, तब वे चिल्लाते हैं, कि ये विधवाएँ अकारण क्या बैठी हैं, इनका विवाह कर डालो। यदि विवाह महँगे न होते, और बाल-वृद्ध विवाह की कुप्रथा न होती, एवम् प्रत्येक विवाहेच्छुक युवक का विवाह होना सम्भव होता, तो यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता था।

धूम धाम और धन के दुरुपयोग की वृद्धि यहाँ तक बढ़ी हुई है, कि विवाहों में जब तक रण्डी न नाचे, तब तक वह विवाह अच्छा ही नहीं समझा जाता। लोग कहते हैं, कि रण्डी विवाह में न नचावें, तो फिर क्या मरने पर नचावेंगे ? हजारों रुपये अपने पास से खर्च करके जो लोग वेश्या-नृत्य करवाते और युवकों के हृदय में विलासिता का अङ्कुर पैदा करते हैं, वे भी इस बढ़ते हुए पाप के लिये जिम्मेदार हैं।

यदि कुल धर्म का महत्व लोगों को मालूम होता, और वे एक कुल-स्थविर के प्रबन्ध में काम करते, तो यह स्थिति क्यों उत्पन्न होती ?

आज, जितने दुःख हैं और जितनी विलासिता बढ़ रही है, इसका एकमात्र कारण अव्यवस्था है। दुःख तो होते हैं अव्यवस्था से, और कहते यह हैं कि काल ही ऐसा है या राजा ही खराब है। यहीं तक नहीं, लोग यह भी कहने लग जाते हैं, कि जो कुछ करता है, वह भगवान ही करता है। मतलब यह है, कि अपनी ही अव्यवस्था मे होनेवाले दुःख को, लोग भिन्न भिन्न कारणों से उत्पन्न दुःख मानते हैं। किन्तु यदि शास्त्र में बतलाये हुए ढङ्ग से समुचित व्यवस्था प्रचलित होती, तो प्रत्येक-मनुष्य सुख-मय जीवन भी व्यतीत कर सकता और पाप की वृद्धि से भी बच सकता।

व्यवस्था उसे नहीं कहते हैं, कि जिसे सर्व साधारण, सुभीते से पाल न सके। जैसे कोई कहे कि अन्न न खाकर केवल तपस्या ही करनी चाहिए और अन्य एक मनुष्य कहे, कि जो कुछ मिले वह सब खा लेना चाहिए, भक्ष्याभक्ष्य अथवा भूख है या नहीं, इसके देखने की जरूरत नहीं है। ये दोनों बातें अव्यावहारिक हैं। इन दोनों में से किसी एक को पकड़कर, यदि कोई मनुष्य सफलता प्राप्त करना चाहे, तो नहीं प्राप्त कर सकता। क्योंकि केवल तपस्या करते रहने से कोई मनुष्य जीवित नहीं रह सकता और जो कुछ भी अगड़म बगड़म मिले, उसे भूख है या नहीं, इसका ध्यान रखे बिना ही ठूँसता जानेवाला मनुष्य भी सुखी नहीं हो सकता।

अब, एक तीसरा मनुष्य कहे, कि अमुक अमुक चीजें

स्वास्थ्य को हानि पहुँचानेवाली है, अतः उन्हें छोड़कर अमुक-अमुक लाभदायक पदार्थ खाओ और बीच बीच में आत्मा को उँची करने तथा स्वास्थ्य-रक्षा की दृष्टि से तप का आश्रय लो, तो यह व्यवस्था है। जो कार्य उचित है,उन्हें करना और अनुचित कार्यों का त्याग करना, इसी का नाम व्यवस्था है।

यही बात, विवाह के विषय में भी कही जाती है। जिस विवाह से कुल रूपी शरीर को लाभ पहुँचे, उसे छोड़कर वैसा विवाह कुल धर्म में नहीं गिना जाता, जिससे कुल की क्षति हो।

कुल धर्म को दृष्टि में रखकर प्रत्येक थीवर ऐसी व्यवस्था करता है,कि कुल में कोई ऐसा कार्य न होने पावे, जिससे कुल की व्यवस्था में बाधा पहुँचे। वह ऐसा इन्तिज़ाम करता है,कि कुल का प्रत्येक विवाहेच्छुक-युवक, नीति-पूर्वक, विवाहित-जीवन व्यतीत करे। क्योंकि ऐसा न होने की दशा में, कुलधर्म का पालन होना, एक प्रकार से असम्भव हो जाता है। कुलधर्म के अभाव तथा कुल थीवर के न होने के कारण ही, आज युवकों के समूह के समूह अविवाहित रहकर दुराचरण करते फिरते हैं और विधवा-विवाह का प्रश्न खड़ा करते हैं। यदि कुल धर्म की व्यवस्था हो, तो ऐसा होने की ज़रूरत ही न पड़े।

आज, ६०-६० वर्ष के बूढ़े भी, कुलधर्म के अभाव एवम् किसी कुल थीवर का भय न होने के कारण, धूम धड़ाके से अपना विवाह सम्पन्न करवाते हैं। दूसरी तरफ छोटे छोटे अबोध-बच्चे, विवाह के बन्धन में आबद्ध कर दिये जाते हैं।

ये दो बड़े-बड़े कारण, विधवाओं की वृद्धि के हैं। इन विधवाओं में भी कई एक बहुत-छोटी उम्र की,जिन्हें यह भी ज्ञान नहीं है कि "हम कौन हैं और विधवा किसे कहते हैं" सुनी गई हैं। इस छोटी आयु में उन्हें विधवा बनाने का कारण, कुल थीवर की सत्ता का अभाव है।

यदि कुल-थीवर होते, तो वे इन सब कुचालों को रोककर ऐसी पद्धति का निर्माण करते कि जिसमें कुल की उन्नति होती और उसके युवक सदाचारी निकलते।

आज, बरात जोड़ देने और खिचड़ी खाने के लिये तो थीवर बनकर, लोग तैयार हो जाते हैं, किन्तु विवाह न्याययुक्त है या नहीं, यह देखनेवाले बहुत कम हैं। प्रीति भोज पहले भी होता था, किन्तु वह प्रीति-वृद्धि के लिये। जबरदस्ती अ-ड़ङ्गा लगाकर उन दिनों लोग भोजन नहीं किया करते थे। आज जो जाति भोज कहा जाता है, वह कई जगह मानों उससे जाति का दण्ड वसूल किया जाता है। और खा-पीकर लोग अपने-अपने रास्ते चले जाते हैं,पीछे से उसकी क्या दुर्दशा होगी, इसका ध्यान भी नहीं रखते।

ये सारी व्यवस्थाएँ, कुल थीवर के अभाव से नष्ट हुई देखी जाती हैं। यदि थीवर होते, तो ऐसी स्थिति उत्पन्न ही न होने पाती और वह ऐसी व्यवस्था करते कि कुल नीचा गिरने की, अपेक्षा उन्नति की ओर अग्रसर होता।

कुल थीवर, कुल की व्यवस्था ही करें, यह बात नहीं है।

बल्कि व्यवस्था का भङ्ग करनेवाले मनुष्य को दण्ड देने का अधिकार भी कुल थीवर को होता था। क्योंकि इसके बिना कुल का काम अच्छी तरह चलना कठिन था। इतिहास से प्रकट है कि कुल की व्यवस्था के भङ्ग करनेवाले मनुष्य को प्राणदण्ड भी दिया गया है।

आज, ओसवालों में यदि कोई मनुष्य अनुचित काम करे, तो उसे दण्ड कौन देता है?

"कोई नहीं"

अर्थात्—कोई कुछ भी करे, परन्तु कोई दण्ड नहीं देता। इसी का परिणाम यह हुआ है कि आज समाज के टुकड़े-टुकड़े हो रहे हैं, और ऐसी दुर्व्यवस्था फैल रही है, कि ६०—६० वर्ष के बूढ़े भी विवाह कर लेते हैं। जब तक जाति में थीवर नहीं होता, तब तक कुल धर्म की व्यवस्था नहीं हो सकती, यह बात निर्विवाद है।

लौकिक कुल थीवर के विषय में कह चुके, अब लोकोत्तर कुल-थीवर के विषय में कुछ कहते हैं।

लोकोत्तर कुल में साधु हैं। साधुओं का भी कुल माना गया है एक गुरु के जितने शिष्य हैं, वे सब उस गुरु के कुल के समझे जाते हैं। अब इन शिष्यों की व्यवस्था रखने तथा इन्हें नियम-पालन में दृढ़ बनाने की जिम्मेदारी इस कुल के थीवर अर्थात् गुरु पर है। यदि थीवर व्यवस्था करके इन्हें सन्मार्ग पर न चलावे, तो ये व्यवस्थित कैसे रह सकते हैं? प्रत्येक शिष्य

को, उसकी उचित आवश्यकताओं की पूर्ति के योग्य साधन देना गुरु का कर्त्तव्य है। शिष्यों को पढ़ा लिखाकर विद्वान बनाना भी गुरु का ही कर्त्तव्य माना गया है।

जो, कुल थीवर है, उसका निष्पक्षपात होकर व्यवस्था करना अत्यन्त आवश्यक है। यदि कोई गुरु अपने १०—२० योग्य शिष्यों के होते हुए भी पक्षपात करके १—२ को ही पढ़ावे और शेष को मूर्ख रहने दे, तो वह गुरु, गुरु नहीं बल्कि कुल-धर्म का नाश करनेवाला है।

बच्चे को बच्चे की सी और वृद्ध को वृद्ध की सी शिक्षा दे और उनकी समुचित साल-सम्हाल रखे, उन्हें अपने चारित्र्य पर दृढ रखने का उद्योग करे, उस थीवर का कुल पवित्र रहता है।

साराश यह कि जिस प्रकार लौकिक कुल थीवर अपने कुल-धर्म के पालन की व्यवस्था करता है, उसी प्रकार जो गुरु अपने कुल के सब साधुओं को कुल धर्म के पालन में दृढ बनाता है, वह लोकोत्तर कुल थीवर है।

कुल थीवर के बनाए हुए नियमों को भग करनेवालों के लिये दण्ड विधान भी बतलाया गया है। उस प्रायश्चित में दसवाँ प्रायश्चित्त अन्तिम सजा है। यह दसवा प्रायश्चित्त उसे दिया जाता है, जो मनुष्य कुल मे रहकर कुल भेदे, सघ में रहकर सघ भेदे या गण में रहकर गण का विच्छेद करे।

साधु, यदि महाव्रतों का मूल से भग करे, तो उसकी अधिक से अधिक सजा नई दीक्षा है। परन्तु गण के बिगाड़ने पर दसवाँ

प्रायश्चित्त। यह क्यों? यह इस लिये कि यदि साधु कोई अपना व्यक्तिगत अपराध करेगा, तो वह अकेला ही बिगड़ेगा। परन्तु कुल-संघादि के बिगाड़ने से न मालूम कितनी हानि हो सकती है।

मित्रो! जो मनुष्य कुल को छिन्न-भिन्न करता है, वह दुष्कर्म बाँधता है, यह बात याद रखनी चाहिए।

" गण-थेरा "

बहुत से कुल एकत्रित होकर एक ' गण ' की स्थापना करते हैं। इस ' गण ' की व्यवस्था करने के लिये एक थीवर नियत किया जाता है, जिसे गण-थीवर कहते हैं।

कुलों की शक्ति यदि एकत्रित न की जाय, तो वह बिखरी हुई रहेगी और किसी बड़े काम को करने में समर्थ नहीं हो सकती। जब, सब शक्तियें एकत्रित करके एक ' गण ' बना दिया जाता है, तब वही बिखरी हुई शक्तियें, एकत्रित होकर बड़ा काम करने में समर्थ हो जाती हैं। इस एकत्रित की हुई शक्ति का सञ्चालन करने के लिये एक अगुआ की आवश्यकता रहती है, और वह गण थीवर के होने पर पूर्ण हो जाती है।

गण-थीवर, गण धर्म की रक्षा करता है। देश-काल के अनुसार, गण के नियमों में परिवर्त्तन करनेवाला थीवर ही सच्चा गण-थीवर कहा जाता है। जो थीवर परिवर्त्तन से डरता है, वह अपना कर्त्तव्य समुचितरूपेण पालन नहीं कर सकता। क्योंकि यदि वह देश-काल के अनुसार परिवर्त्तन न करेगा, तो गण धर्म नष्ट हो जायगा।

यह संसार भी परिवर्त्तनशील है। जब संसार में भी परिवर्त्तन होता रहता है, तो गण धर्म के [illegible] में [illegible] देश-काल के अनुसार परिवर्त्तन न [illegible] हो

जाता है। कौनसा काम किस काल में करने योग्य है, इस बात का गण थीवर ही विचार करता है।

जैसे, लोग गर्मी में महीन कपड़े पहनते हैं, परन्तु जाड़े में मोटे पहनने लगते हैं। गर्मी में दूसरा भोजन करते हैं और जाड़े में दूसरा। गर्मी में दूसरे कमरे में सोते हैं और जाड़े में दूसरे। मतलब यह कि यदि वे यह परिवर्त्तन न करें, तो खराबी पैदा हो जाती है और बीमार हो जाते हैं। इसी प्रकार गण थीवर, गणधर्म में भी परिवर्त्तन करने की आवश्यकता समझता है। मैंने एक पुस्तक में पढ़ा है कि जिस चीज़ में परिवर्त्तन नहीं होता, वह ठहरती ही नहीं, बल्कि नष्ट हो जाती है। झाड़ों को देखिये कि वे भी पुराने पत्ते फेंककर नये पत्ते धारण करते हैं। अर्थात्–परिवर्त्तन करते हैं। वृक्षों की जिन डालियों में पत्तों का परिवर्त्तन नहीं होता है, वे डालें मुर्दा समझी जाती हैं। जैन–शास्त्रों में भी उत्पाद, व्यय और ध्रुव बताया है। मतलब यह कि समयानुसार परिवर्त्तन होना ही कल्याणकारक माना जाता है।

किन्तु परिवर्त्तन करनेवाले का बुद्धिमान होना आवश्यक है। कहीं उल्टा परिवर्त्तन कर दिया, तो व्यवस्था होना तो दूर उल्टी अव्यवस्था उत्पन्न हो जायगी। इसलिये जो बुद्धिमान थीवर हैं, वे बड़ी बुद्धिमानी से देश-काल को देख, निष्पक्ष दृष्टि रखकर परिवर्त्तन करते हैं, जिससे वह परिवर्त्तन निश्चित ही सुखदाता होता है।

गणधर्म के नियमों में आवश्यकतानुसार परिवर्त्तन करने

के अतिरिक्त गण-धीवर का यह भी कर्त्तव्य होता है, कि वह गण के हानि-लाभ को सदैव अपनी दृष्टि में रखे। जो धीवर, गण-धर्म का समुचित पालन करवावे, तथा उस सगठित शक्ति को आवश्यकतानुसार अङ्गुलि-निर्देश-मात्र से कठिन से कठिन कार्य में लगा सके, वही सच्चा गण धीवर कहा जाता है।

संघ—थेरा

कई कुलों के सगठित होने पर गण और कई गणों के सगठित होजाने पर सघ बनता है।

सघ दो प्रकार के होते हैं। एक लौकिक सघ दूसरा लोकोत्तर सघ। इन दोनों की व्यवस्था करने के लिये थीवर भी दो ही प्रकार के होते हैं। एक लौकिक सघ थीवर, दूसरा लोकोत्तर-सघ थावर।

लौकिक-सघ थीवर, लौकिक सघ की व्यवस्था करता है। देश काल के अनुसार सघ के नियमो में परिवर्तन या नये नियमों का रचना करके, सघ को कल्याण की ओर लेजाना, सघ थीवर का प्रधान-कर्तव्य माना जाता है। बड़ा प्रभाव शाली और दूरदर्शी मनुष्य ही सघ थावर हो सकता है। क्योंकि यदि थीवर बुद्धिमान न हुआ, तो वह सघ को ऐसी दिशा में भी ले जा सकता है, जिससे सघ को बड़ी क्षति होने की सम्भावना रहती है। अत इतनी बड़ी सगठित शक्ति की रक्षा के लिये, बड़े बुद्धिमान मनुष्य की आवश्यकता रहती है।

सघ थीवर का पद, उतने ही महत्व का है, जितना कि एक सेनापति का। यदि सेनापति बुद्धिमान न हुआ, तो सारी सेना को नष्ट कर देगा। इसी प्रकार यदि सघ थीवर बुद्धिमान न हुआ, तो सारे सघ को क्षति पहुँचावेगा। अत सघ थावर का कार्य वही मनुष्य कर सकता है, जो बुद्धिमान, दूरदर्शी नि स्वार्थी और प्रभावशाली हो।

अब, लोकोत्तर सघ थीवर के विषय में कुछ कहते हैं।

लोकोत्तर-सघ-थीवर, लोकोत्तर-सघ की व्यवस्था करता है। लोकोत्तर-सघ में साधु-साध्वी और श्रावक श्राविका हैं। इनकी धार्मिक-व्यवस्था करनेवाले आचार्यादि अग्रणी मुनिराजों को लोकोत्तर सघ थीवर कहते हैं।

लोकोत्तर सघ थीवर, इस बात की व्यवस्था करता है कि सघ में किसी प्रकार का विग्रह न फैल जाय। यदि दैवयोग से किसी प्रकार का मनोमालिन्य साधुओं में परस्पर दिखाई देता है, तो सघ थीवर उसे दूर करने की चेष्टा करता है।

जिस प्रकार लौकिक सघ थीवर को सघ में विग्रह डालने या उत्पात करनेवाले को दण्ड देने का अधिकार है, उसी प्रकार लोकोत्तर सघ थीवर भी सघ के किसी साधु के नियम भङ्ग करने पर उसे दण्ड दे सकता है।

साराश यह, कि लोकोत्तर सघ की समुचित व्यवस्था करे, सघ के प्रत्येक-साधु के चारित्र्यादि सद्गुणों पर कड़ी दृष्टि रखे, और उन्हें अपनी आज्ञा में चलावे तथा आज्ञा भङ्ग करने पर समुचित दण्ड दे, वही लोकोत्तर सघ थीवर है।

जाति-थेरा

जाति में,जिस मनुष्य की अवस्था ६० वर्ष की हो गई हो उसे अवस्था का थीवर, अथवा जाति-थीवर कहते हैं।

जिन वृद्ध मनुष्यों का अनुभव बढ़ा हुआ हो और जिनकी बुद्धि परिपक्व हो गई हो, उनकी उचित शिक्षा मानने में ही जाति का कल्याण है। क्योंकि ऐसे वृद्धों के हृदय में उत्तेजना नहीं रहा करती, इससे वे प्रत्येक बात को खूब सोच समझकर ही कहते हैं।

प्रत्येक-जाति में ऐसे वृद्ध थीवरा की बड़ी आवश्यकता मानी जाती है। क्योंकि, युवक स्वभाव से ही प्राय जोशीले होते है, अत यदि उनपर किसी का अङ्कुश न हो तो बड़े-बड़े अनर्थ होजाने की आशङ्का रहती है।

कहावत मशहूर है कि "नादान दोस्त से दाना दुश्मन अच्छा।" इसका मतलब यह है कि दाना-मनुष्य, चाहे दुश्मन ही हो, किन्तु वह शीघ्र ही किसी का अकल्याण करने को तयार नहीं होता और नादान चाहे दोस्त ही हो, किन्तु आवश्यक्ता पड़ने पर वही दोस्त नाराज होकर पूरे दुश्मन का काम कर बैठता है।

इसी लिये शास्त्रकारों ने ६० वर्ष के बुद्धिमान और अनुभवी बूढ़े को जाति थीवर कहा है। आज,जाति-थीवरों का समुचित सम्मान न होने से, जातियों में कैसी दुर्व्यवस्था फैल रही है, यह बात प्रत्येक-मनुष्य जानता है। यदि शास्त्र में वर्णित ढङ्ग से व्यवस्था होवे,तो आज भी जाति का पतन रुक सकता है।

आज, जवान तो जवान ही है, किन्तु अधिकांश बूढ़ों की

यह दशा है कि वे युवकों की अपेक्षा अधिक अविचारी और उच्छृङ्खल देखे जाते हैं। रूढ़ियों के गुलाम, आज जितने ६०—६० वर्ष के थीवर बनने योग्य बूढ़े मिलेंगे, उतने युवक नहीं मिलेंगे। मेरे इस कथन का यह मतलब नहीं है कि सब बूढ़े रूढ़ियों के गुलाम हैं या सब युवक उन्नत-विचार रखनेवाले हैं। किन्तु वृद्धों की विशेष रूढ़िप्रियता, जाति के कल्याण की बाधक है।

युवक-समाज, आज आदर्शहीन होकर, इधर-उधर ठोकरें खाता फिरता है। क्योंकि, जाति में प्रभावशाली-थीवरों की बड़ी कमी है। जो बूढ़े हैं, वे आज की परिस्थिति को देखते हुए किसी योग्य नहीं प्रतीत होते, यह भारी दुर्व्यवस्था है। जबतक यह दुर्व्यवस्था दूर न हो और थीवर लोग आदर्श बनकर, युवकों को न दिखा दें, तबतक जाति के कल्याण की आशा दुराशामात्र है।

जिस तरह लौकिक जाति-थीवर, ६० वर्ष का वृद्ध ही माना जाता है, उसी प्रकार लोकोत्तर जाति में भी जो साधु ६० वर्ष की आयु का हो चुका है, वह लोकोत्तर जाति-थीवर कहा जाता है। उसका उचित सम्मान करना और उसकी परिपक्व बुद्धि से निश्चित किये हुए ढङ्ग से व्यवहार करना, साधुओं का कर्तव्य है। परन्तु जो केवल वय का थीवर हो और बुद्धि-वैभव से हीन हो, कृत्याकृत्य का जिसे विशेष भान न हो, एवम् देश काल से अनभिज्ञ रहकर केवल भद्दी बातों की जिद रखता हो, वह थीवर कहलाने के लायक नहीं है।

सूत्र--थेरा

सूत्र धर्म के पालन की समुचित-व्यवस्था करानेवाले को सूत्र-थीवर कहते हैं।

जिन मुनिराज को ठाणांगसूत्र और सामायक आदि की बारीक से बारीक बातों का ज्ञान हो तथा जो सूत्र धर्म के पालन की समुचित व्यवस्था करते हों, उन्हें सूत्र थीवर कहते हैं।

सूत्र थीवर, इस बात का ध्यान रखता है कि कौन व्यक्ति सूत्र-धर्म का समुचित पालन करता है और कौन नहीं। जिस मनुष्य को सूत्र थीवर देखता है कि वह सूत्र धर्म के पालन में कुछ शिथिलता करता है, उसे उपदेश देकर अपने धर्म में दृढ़ करता है।

सूत्र थीवर का यह कर्तव्य है कि यदि कोई जिज्ञासु श्रावक, सूत्र धर्म में निर्णयात्मक दृष्टि से किसी प्रकार की शङ्का करे, तो वह उसकी शङ्का का समुचित-समाधान करे और शास्त्र-पाठ से उसे अपना कर्तव्य बतलावे।

संघ-धर्म की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि साधु साध्वी और श्रावक-श्राविका ऐसा चतुर्विध-संघ है। ये दोनों परस्पर आश्रित भाव से हैं। यानी साधु श्रावक के और श्रावक साधु के आश्रित हैं। ऐसी दशा में इन दोनों का परस्पर सहयोग होना अत्यावश्यक है। श्रावक धर्म जिज्ञासा की तृप्ति के लिये साधुओं के आश्रित है, अतः उन्हें जो-जो शङ्काएँ हों, उनका निवारण करना सूत्र थीवर अर्थात् शास्त्र के मर्मज्ञ साधु का कर्तव्य है।

किन्तु, आजकल कुछ गृहस्थियों की धर्म के प्रति ऐसी उदासीनता देखी जाती है, कि वे अज्ञान में पड़े रहते है, किन्तु सूत्र-चीवर से ज्ञान नहीं प्राप्त करते। यह स्थिति श्लाघ्य नहीं कही जा सकती। ऐसी स्थितिवाले मनुष्य, सूत्र धर्म की क्षति तो करते ही है, किन्तु साथ ही अपनी भी कोई कम क्षति नहीं करते। जब तक, सूत्र धर्म के पालन की समुचित व्यवस्था न हो और लोगों की इस ओर रुचि न हो, तब तक सूत्र धर्म के विस्तार की आशा कैसे की जासकती है?

परिताय-थेरा

जिस मुनि ने, २० वर्ष तक संयम पाला हो, और शास्त्रों का खूब अध्ययन किया हो, उसे 'परिताय थेरा' यानी 'पर्याय थीवर' कहते हैं।

पर्याय-थीवर में इतना ज्ञान पैदा होजाता है, कि बिना शास्त्र देखे ही, वह शास्त्र की बात कह सकता है। उसे, क्षण-क्षण पर शास्त्र देखने की आवश्यकता नहीं रह जाती। और वह कोई ऐसी बात नहीं कह सकता, जो शास्त्रीय नियमों के विरुद्ध हो।

पर्याय-थीवर, एक प्रकार का स-शरीर शास्त्र ही होता है। अर्थात्-शास्त्र में कथित ज्ञान तो उसके मस्तक में रहता है और आचरण उसके आचरण में। ऐसे पर्याय थीवर के कहे हुए सिद्धान्त, अनुभव-युक्त होने से प्राय सत्य ही होते हैं।

पर्याय थीवर बनने का सौभाग्य, बहुत कम मुनियों को प्राप्त होता है। जो साधु, सच्चे दिल से शास्त्राध्ययन करता है, और प्रत्येक नियमोपनियम का पूर्ण रूपेण पालन करता है, वही आगे चलकर पर्याय थीवर हो सकता है।

ॐ शान्ति

सदुपदेश का भंडार, सच्चरित्र का मार्ग-
दर्शक उच्च ज्ञानका कोष, चित्तशान्ति
का आदर्श भवन,
सर्वमान्य, जगद् विख्यात, स्वर्गस्थ जैना-
चार्यवर महात्मा श्रीलालजी महाराज का

❀ जीवन चरित्र ❀

७०० पृष्ठोंका दलदार पक्की जिल्द बधाहुवा अनेक प्रसिद्ध पुरुषों के चित्रों सहित, जिसको अपनी समाजके आत्मभोगी श्रीयुत दुर्लभजी त्रिभुवनदास झवेरी ने बडे परिश्रम से तैयार किया है। और इस ग्रन्थ का सर्व साधारण लाभ ले सकें इसलिये पोष्टेजखर्चके रु. ।।) आने पर भेज दिया जायगा।

मिलने का पताः-

श्री साधुमार्गी जैन पूज्य श्रीहुक्मीचंदजी महाराज की सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक मंडल
आफिस

॥ श्री ॥

खुश खबर ।

सर्व सज्जनों को विदित हो कि वैशाख सुदि ५ संवत् १९८६ को श्रीजैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति ने "श्रीजैनोदय प्रिंटिंग प्रेस" के नाम से एक प्रेस कायम किया है। इस प्रेस में हिंदी, अंग्रेजी, संस्कृत, मराठी का काम बहुत अच्छा और स्वच्छ तथा सुन्दर छापकर ठीक समय पर दिया जाता है। छपाई के चार्जेज वगैरा भी किफायत से लिये जाते हैं।

अतःएव धर्म प्रेमी सज्जन, छपाई का काम भेजकर धर्म परिचय देने की कृपा करेंगे, ऐसी आशा है।

निवेदक—

मैनेजर

श्रीजैनोदय प्रिंटिंग प्रेस,